दर्पण

स्वामी प्रेमानन्द सरस्वती

हीरक जयन्ती पुष्प

दर्पण

दर्पण

श्री स्वामी प्रेमानन्द जी सरस्वती

प्रकाशक : दिव्य जीवन सङ्घ
पो० शिवानन्दनगर-२४९१९२, जिला टिहरी गढ़वाल (उ० प्र०) हिमालय

विश्व प्रार्थना

हे स्नेह और करुणा के आराध्य देव !
तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार है ।
तुम सच्चिदानन्दघन हो ।
तुम सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हो ।
तुम सबके अन्तर्वासी हो ।
हमें उदारता, समदर्शिता और मन का
समत्व प्रदान करो ।

श्रद्धा, भक्ति और प्रज्ञा से कृतार्थ करो ।
हमें आध्यात्मिक अन्तःशक्ति का वर दो,
जिससे हम वासनाओं का दमन कर
मनोजय को प्राप्त हों ।

हम अहंकार, काम, लोभ और द्वेष से रहित हों ।
हमारा हृदय दिव्य गुणों से पूर्ण करो ।
सब नाम-रूपों में तुम्हारा दर्शन करें ।
तुम्हारी अर्चना के ही रूप में
इन नाम-रूपों की सेवा करें ।

सदा तुम्हारा ही स्मरण करें ।
सदा तुम्हारी ही महिमा का गायन करें ।
केवल तुम्हारा ही कलिकल्मषहारी नाम
हमारे अधर-पुट पर हो ।

सदा हम तुममें ही निवास करें ।

आमुख

इस प्रकाशन का उद्देश्य स्वामीजी के उन बहुमूल्य विचारों तथा चिन्तनों को एक स्थान पर प्रस्तुत करना है, जो उन्होंने या तो अपने प्रवचनों में अथवा पृथक्-पृथक् समयों के अपने अवसरिक लेखों में एवं भक्तों के विभिन्न प्रश्नों के अपने प्रासंगिक उत्तरों में अभिव्यक्त किये हैं। मनुष्य अपने सामान्य दृष्टिकोण की सांसारिकता में सामान्य रूप से प्राप्य स्वाभाविक विक्षेपों से युक्त अपने नीरस जीवन से प्रायः अभ्यस्त हो चला है, किन्तु निश्चय ही उसे अनेक बार एक ऐसे प्रबो-धन के लिए अपने से ऊपर की दिशा में दृष्टि निक्षेप करने की आव-श्यकता पड़ती ही है, जो भौतिक पदार्थों के विषय में उसके पार्थिक मूल्यांकनों के अन्धकारपूर्ण पहलुओं को द्युतिमान् कर दे। हमें पूर्ण विश्वास है कि इस रचना में बिखरी हुई सूक्तियां, सुझाव तथा अतीव लाभकारी परामर्श एक मूल्यवान् उपज का काम देंगे, जिनका उपयोग व्यक्ति अपने हितार्थ कर सकता है।

शिवानन्दनगर, —डिवाइन लाइफ सोसाइटी
२७ अगस्त, १९८०

विषय सूची

दर्पण

प्रभु की माया इतनी जटिल है कि बड़े-बड़े ऋषि और मुनि भी आदिकाल से उसमें भ्रमित होते रहे हैं—और वे भी इस सृष्टि का आदि-अन्त पाने में असफल रहे हैं। हमारे चारों तरफ फैली हुई सृष्टि इतनी विचित्र और बड़ी है कि जिसका ज्ञान उन्नति पर पहुँचे हुए आजकल के विज्ञानियों को भी अभी पूर्णतया नहीं हुआ है। फिर साधारण प्राणी को इस सृष्टि का ज्ञान कैसे हो सकता है—सम्भवतः नहीं हो सकता है। तो क्या इसका तात्पर्य यह समझा जाये कि मनुष्य एक प्रकार से असमर्थ और पराधीन ही है और उसके हाथ में जो कुछ भी है वह नहीं के बराबर है? परन्तु देखने में तो यह आता है कि मनुष्य बहुत बड़े-बड़े काम करता है—समुद्र की गहराइयों से मोती बटोरता है, पहाड़ों की खानों में छिपे हुए हीरे चुनता है और अन्तरिक्ष में चाँद तथा अन्य नक्षत्रों पर अपना अधिकार जमाने के प्रयास में है, ऐसे-ऐसे अस्त्र और शस्त्र के निर्माण में प्रयत्नशील है जिससे कि पूरे भू-मण्डल को क्षणमात्र में विध्वंस कर सके और सबको अपने वशीभूत कर लेवे। यद्यपि उसको पता नहीं है कि उसका अपना अन्त कब और कैसे आयेगा। वह हर प्रकार के बड़े-बड़े प्रयोग कर रहा है कि वह ऐसा सुख उपलब्ध कर सके कि जिसका कभी नाश न हो। देखिये कितनी बड़ी विडम्बना है कि इतना महान पराक्रमी और बुद्धिमान मानव यह नहीं सोच पाता कि जिस सुख और शान्ति की खोज एवं पूर्णता की प्राप्ति का प्रयास अथक परिश्रम द्वारा वह जहाँ भी कर रहा है और जिनमें भी कर रहा है, वे दोनों ही परिवर्तनशील और अस्थायी हैं—फिर वहाँ ऐसे अखण्ड आनन्द, शान्ति एवं पूर्णता की प्राप्ति कैसे होगी? यह सारी दौड़ मरीचिका से प्यास बुझाने के सदृश है। फिर वह करे क्या! यह एक अत्यन्त गम्भीर प्रश्न है परन्तु इसका उत्तर इतना सरल

है जिसे आज का मनुष्य मानने को तैयार नहीं है क्योंकि उसे जटिलता से प्यार हो गया है—चाहता शान्ति है और यत्न करता है अशान्ति का, चाहता प्रकाश है परन्तु प्यार है उसे अन्धकार से, माँग है उसकी अमर जीवन की परन्तु आह्वान करता है मृत्यु का। दैनिक प्रार्थना में वह बोलता है :

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मामृतं गमय।

प्रश्न उठता है कि फिर ऐसा क्यों है ? क्योंकि व्यक्ति के मन में होता कुछ और है, कहता कुछ और है और करता कुछ और। इन तीनों में भिन्नता होने के कारण व्यक्ति के अन्दर एक द्वन्द्व उठा करता है और इस संघर्ष में ही उसकी जीवन-यात्रा पूरी हो जाती है। मनुष्य के चारों ओर एक प्रकार से कर्मों की चादर फैली रहती है जिस पर अनेक प्रकार के काले और सफेद धब्बे भी पड़े रहते हैं, राग-द्वेष के छींटे पड़ते हैं तो कभी काम-क्रोध के। कभी लोभ-मोह की कालिख लग जाती है तो कभी मद-मत्सर की ज्वाला से चादर में जलने के भी दाग पड़ जाते हैं। बुद्धिमान मनुष्य इन दागों को, इन छींटों को, इन धब्बों और कालिख को देखकर सिहर उठता है परन्तु आसक्ति के कारण आँख बन्द करके असत्य और अनर्थ की पगडंडी का त्याग नहीं करता। बीच-बीच में देखता तो है कि जाना तो उत्तर की ओर था लेकिन जा रहा हूँ दक्षिण की ओर, कामना तो स्वर्ग की थी परन्तु पैर फैला लिए नरक की दल-दल में, आशाएँ और चाह तो थी मुक्ति की और फँस गये बन्धन के जाल में।

राही कहीं है, राह कहीं, रहबर कहीं।
ऐसे भी कामयाब हुआ है सफर कहीं ?

सबसे बड़ी खेती मानव-जीवन की खेती है, जिसमें शुभ-अशुभ कर्मों के बीज बोये जाते हैं। सबसे बड़ा विद्यालय यह विस्तृत 'विश्व' ही है, जिसमें जीवन की पुस्तक का क्रियात्मक रूप में पाठ पढ़ा जाता है। सबसे बड़ा दर्शन 'जीवन-दर्शन' है, जिसका स्पष्ट रूप से स्वयं अपने जीवन का दर्शन करना परमावश्यक होता है। सबसे बड़ा विज्ञान 'मानव-विज्ञान' है, जिसकी खोज करना नितान्त आवश्यक है। जीने की कला सबसे बड़ी कला है, जिसमें निपुणता प्राप्त करना अनिवार्य होता है। मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति भक्ति-युक्त-मुक्ति है, जिसके उपरान्त फिर कुछ करना शेष नहीं रहता। जिस मनुष्य ने अपनी जीवन-खेती की देख-भाल ठीक ढंग से तत्परतापूर्वक नहीं की, जिस व्यक्ति ने इस 'विश्व-विद्यालय' में प्रवेश कर अपनी जीवन पुस्तिका को ध्यान से नहीं पढ़ा, जिसने अपने 'जीवन-दर्शन' का वास्तव में दर्शन नहीं किया, जिसने जीने की कला को नहीं सीखा, जिस व्यक्ति ने मानव विज्ञान का अध्ययन सुचारु रूप से नहीं किया, वह चाहे कितना बड़ा विद्वान् और ज्ञानी क्यों न हो, चाहे वह एक प्रसिद्ध विज्ञानी ही हो, वह मानव चाहे कितनी ही कलाओं में प्रवीण हो, कितना बड़ा ही दर्शन शास्त्री हो और कितना बड़ा ही विद्वान् क्यों न हो, चाहे उसने अनेक विद्यालयों से शिक्षा प्राप्त की हो, चाहे वह कृषि विज्ञान में भी पूर्ण निपुण हो, जिस समय यमराज उसके सामने प्रकट होगा, अकस्मात् ही वह चीत्कार कर उठेगा और घोर पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसने लगेगा। उसमें एक चीख उठेगी और हो सकता है उसकी वाणी से निकल पड़े कि जिसलिए यह अति मूल्यवान मानव योनि प्राप्त हुई थी, हाय ! केवल वही नहीं किया और हीरों के बदले में आयु भर टूटे काँच के टुकड़ों का ही संचय करता रहा और अब सब कुछ जैसे का तैसा ही छोड़कर इस संसार से रोता और बिलखता विदा ले रहा हूँ। उस समय उसके स्मृति-पट पर स्पष्ट रूप से उभरे हुए अक्षरों में दिखाई देगा—

'उमरे दराज माँग कर लाया था चार रोज़
दो आरज़ू में कट गये दो इन्तज़ार में।'
और
'सब ठाठ पड़ा रह जायेगा जब लाद चलेगा बंजारा।'

महाभारत में एक स्थान पर एक वर्णन आता है जबकि यक्ष ने धर्मराज युधिष्ठिर से कई प्रश्न किये थे। इनमें एक प्रश्न यह भी था कि संसार में बड़े अचम्भे की बात कौन-सी है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया था कि इस संसार का सबसे बड़ा अचम्भा यही है कि मनुष्य रोज देखता है कि अनेकों व्यक्ति रोज काल का ग्रास बन रहे हैं फिर भी वह यह नहीं समझ पाता कि एक दिन उसकी भी मृत्यु होगी—

'औरों की मौत पर रो लेता हूँ मैं,
अपने मरने का यकीं आता नहीं।'

यदि मनुष्य इतनी सी बात को प्रत्यक्ष प्रमाण समझते हुए हृदय से मान ले तो उसके जीवन का दृष्टिकोण ही बदल जायेगा और फिर वह सरलतापूर्वक सत्य और असत्य का निराकरण करने में समर्थ हो जायेगा। यह स्मरणीय है कि वह जीवन से निराश नहीं होगा अपितु वास्तविकता का दर्शन कर सत्य के पथ पर अग्रसर हो जायेगा और मिले हुए जीवन का सदुपयोग कर वह आवागमन के चक्कर से मुक्त होने के प्रयास में भी सफल होगा। यक्ष के प्रश्न का उत्तर जो धर्मराज युधिष्ठिर ने दिया, उससे भी अधिक आश्चर्य की बात एक और है। उसका भी उल्लेख महाभारत में ही है और वे वचन हैं भीष्मपितामह के। भीष्मपितामह जी ने एक बार कहा कि इससे और अधिक आश्चर्य की क्या बात हो सकती है कि व्यक्ति जान-बूझकर बड़े यत्न और होशियारी से, बड़ी स्कीम और प्लानिंग के साथ, घोर पाप कर्म करता है परन्तु उन किए हुए पाप कर्मों का फल न भोगना पड़े इसके लिए अनेक प्रकार के प्रयास करता है अर्थात् किये हुए कर्मों के फल से अपने

को बचाने का यत्न करता है और दूसरों को फँसाने का प्रयत्न करता है। जो शुभ और भले कर्म वह करता नहीं है, उनका फल चाहता है। कितनी विचित्र विडम्बना है। भला और अच्छा कर्म किये बिना वह भगवान से प्रार्थना भी करता है कि उसको जीवन में सुख, शान्ति और सफलता प्राप्त हो। भला ऐसा कैसे होगा, आप स्वयं विचार करके देखें। आजकल के चतुर मनुष्य ने भगवान को संसार के सुख और सम्पदा प्राप्त करने का साधन बना लिया है। याद रखें—आज का कहलाने वाला मानव साधारणतया भगवान को नहीं मानता है, वह ईश्वर को याद करता है और उसके आगे माथा टेकता है तो उसका कारण भय होता है अथवा स्वार्थ। जबकि प्रभु प्राप्ति का साधन केवल प्रेम ही है—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होंहि मैं जाना।।"

आज तो चतुर व्यक्ति ने प्रेम को भी स्वार्थ और व्यापार का साधन बना लिया है। इसी कारण बहुत से लोग ईश्वर को नहीं मानते। ऐसे न मानने वाले लोग आमतौर से एक दलील देते हैं कि उनके जीवन में तथा जो लोग ईश्वर को मानने वाले हैं उनके व्यवहार में क्या भेद है ? वे देखते हैं कि मन्दिर में एक व्यक्ति भक्त बनकर बड़ा चढ़ावा चढ़ाता है परन्तु दूसरी ओर घूसखोरी और चोरबाजारी, झूठ और कपट से निःसहाय निर्धन जनता को चूस-चूस कर अपना खजाना भरता है। जबकि भक्त वही है जो पीर पराई जाने। अपना सब कुछ देकर भी नारायण रूपी असहाय की सेवा करे।

बहुत दिनों की बात है (सम्भवतः १९४९ ई० की) पूर्व आश्रम में मेरे एक मित्र दिल्ली में नई सड़क पर एक चौबारे पर रहते थे। तोमर वंश के थे और हापुड़ के पास उनका ग्राम था। उस समय मैं दिल्ली में उनके घर के समीप ही पीपल महादेव में रहता था। वे थे, उनकी पत्नी थीं और एक नौकर था। एक दिन उनका नौकर अकस्मात दोपहर में

घबराया हुआ सा मेरे पास आया और कहा कि बीवी जी ने आपको अतिशीघ्र बुलाया है क्योंकि एक झगड़ा उठ खड़ा हुआ है। मैं शीघ्र ही मित्र के घर पहुँचा तो देखा सड़क पर अपने जीने के सामने खड़ी उनकी पत्नी एक मियाँ साहब से हाथ जोड़कर और गिड़गिड़ाकर क्षमा की भीख माँग रही हैं। वह कह रही थीं—भूल से गुस्से में आकर नादान बालक ने यह तस्वीर खिड़की से नीचे फेंक दी है, जिससे आपके सिर में चोट आ गयी और फ्रेम में लगा काँच टूट जाने से आपके सिर में थोड़ा सा जख्म भी हो गया है। आप उस बच्चे की नादानी के लिए क्षमा करें। वह तो बोल नहीं सकता। मैं स्वयं उसकी ओर से माफी माँग रही हूँ और अब आइन्दा ख्याल रखूँगी कि तस्वीर उसके हाथ में फिर न पड़े। मुझे बड़ा अचम्भा हुआ क्योंकि उस समय तक उनके तो कोई बच्चा था नहीं फिर भी मैंने कुछ कहा नहीं, केवल उनकी हाँ में हाँ मिलायी और बड़े मियाँ जी की खुशामद की और कहा आप तो समझदार बुजुर्ग आदमी हैं, आपको तो नासमझ बच्चे को माफ करना ही होगा। वहाँ एक छोटी-सी भीड़ इकट्ठी हो गयी थी उसमें से भी कुछ लोगों ने मेरी बात की ताकीद की। मैंने बड़े मियाँ से निवेदन किया कि आप मेरे साथ अभी रिक्शा पर डाक्टर के पास चलें। मैं अभी आपके जख्मों की मरहम पट्टी करा देता हूँ और डाक्टर साहब से अर्ज करूँगा कि जब तक आपका यह जख्म ठीक न हो तब तक वह बराबर आपका इलाज करें, जिसका खर्चा मैं खुद बरदाश्त करूँगा। बहुत समझाने बुझाने के बाद बड़े मियाँ तैयार हो गये और वे मेरे साथ रिक्शा पर बैठकर डाक्टर के यहाँ गये। वहाँ उनकी मरहम पट्टी कराने के बाद मैं तोमर जी के घर आया और ऊपर चौबारे पर गया तथा उनकी पत्नी से पूछा कि आपके यहाँ कौन-सा ऐसा बच्चा आ गया है जिसने भगवान कृष्ण की चौखट में मढ़ी हुई तस्वीर को खिड़की से नीचे फेंक दिया और वह मियाँ जी के गंजे सिर में जाकर लगी, जिससे शीशा भी टूटा और उनको चोट भी आयी। उनकी पत्नीजी ने मुस्कराते हुए अपने पति जी की

ओर इशारा किया, जो एक कोने में कुर्सी पर गुमसुम उदास से बैठे हुए थे। मैंने अचम्भे से तोमर साहब की तरफ देखा और उन्होंने चुपचाप मेरी ओर एक तार (टेलीग्राम) बढ़ा दिया। तार उनके पिता जी की ओर से भेजा गया था, जिसके द्वारा यह सूचना दी गयी थी कि तीन साल से चल रहे एक दीवानी के मुकदमे में उनके पिता जी हार गये हैं और उन्हें सपत्नी तुरन्त गाँव बुलाया है। तार पढ़ने और कुछ विचार करने के उपरान्त मैंने तोमर जी से कहा कि यह तार आपके विपक्षियों के द्वारा दिया गया है। आप अपने पिता जी को किसी के द्वारा एक पत्र लिखकर भेजें क्योंकि उनके गाँव में डाकखाना नहीं था और तार घर हापुड़ में था, जो कई मील दूर था। तोमर जी ने मेरी बात मान ली। जहाँ तक मुझे याद है यह घटना रविवार की थी अथवा कोई छुट्टी का दिन। दूसरे दिन सायंकाल जब मैं तोमर जी के घर हालचाल पूछने गया तो देखा कि उन्होंने एक बहुत सुन्दर कृष्ण भगवान का चित्र शीशे के फ्रेम में लगवा लिया है और उसे उसी आले में सुसज्जित करके रखा है, वहाँ पर एक दीपक भी जलाया हुआ है और धूप जल रही है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता भी छोटे से सुन्दर रूमाल में लपेट कर वहाँ रखी हुई है। मैंने जब यह देखा तो मुझे थोड़ा अचम्भा हुआ। मैंने उनकी पत्नी से पूछा कि आपने तोमर जी पर क्या जादू कर दिया कि यह पुनः भगवान के भक्त बन गये। मुस्कराते हुए उन्होंने तोमर जी के पिता जी का पत्र मुझे दिया जो उसी दिन उन्हें डाक द्वारा प्राप्त हुआ था और उनके पिता जी के हाथ द्वारा मेरठ कोर्ट से लिखा हुआ था। पिताजी ने लिखा था कि वे मुकद्दमा जीत गये हैं और अभी वे घर नहीं जाएँगे, मेरठ या हापुड़ में हो रहेंगे क्योंकि विपक्षियों का ऐसा प्लान है कि गाँव जाते समय जो रास्ते में जंगल पड़ता है वहाँ वे मुझ पर हमला करेंगे और मुझे मारने का षड्‌यन्त्र है। अतः गाँव जाने से पूर्व मैं अपने बचाव का उचित प्रबन्ध करूँगा। श्री तोमर जी लगभग एक वर्ष से किसी पंडित जी के बताये हुए ढंग से एक साधन कर रहे थे,

जिसमें भगवद्गीता का दैनिक पाठ भी था तथा भगवान् कृष्ण की उपासना भी। वैसे तोमर जी भगवान और देवी-देवताओं में बहुत कम विश्वास करते थे परन्तु विवशतावश उन्होंने पंडित जी की बात मान ली थी और वे मुकद्दमा जीत जायें इसलिए वे पाठ आदि करते थे। जब तार आया तो उनको भगवान् पर क्रोध भी आया और उन्होंने आवेश में भगवान् कृष्ण के शीशे मढ़े हुए फ्रेम के चित्र और गीता को सड़क पर फेंक दिया। परन्तु जब उन्हें उनके पिता जी का हस्तलिखित पत्र प्राप्त हुआ तो उन्होंने तुरन्त भगवान के एक सुन्दर चित्र को शीशे में जड़वाकर उसी प्रकार से आसीन कर दिया।

तो मैं निवेदन कर रहा था कि व्यक्ति जो भगवान की पूजा आदि भी करते हैं तो उसमें भी विशेष रूप से उनका स्वार्थ ही रहता है। मैंने एक बार कहीं पढ़ा था कि एक सज्जन ने कई बार अपने इष्ट को इस विचार से बदला कि पहले वाला इष्ट उसका कार्य पूरा नहीं कर सका। प्रभु भक्ति का सम्बन्ध जब तक प्रेम से नहीं होता तब तक वास्तव में साधक भगवद्भक्त नहीं बन पाता। निष्काम भक्ति की आधार-शिला तो केवल प्रेम ही है। फिर भी सकाम भक्ति में भी यदि मानव अपने विवेक का उपयोग कर जीवन की वास्तविकता के दर्शन का प्रयास करते हुए जो भी वह भक्ति का साधन करता है, यदि उसमें ईमानदारी से प्रेम का पुट दे दे तो कुछ ही दिनों के उपरान्त प्रभु अनुराग उसके हृदय में इस प्रकार घर लेता है कि वह प्रत्येक कार्य में प्रभु को प्रमुखता देने लग जाता है। ऐसे साधक को वास्तव में आगे चलकर स्वयं प्रभु-कृपा की झलक दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त उसको कुछ और भी प्राप्त होता है। जो उसको 'कुछ और' प्राप्त होता है यदि उसमें वह रस लेने का अभ्यस्त न हो और उसमें उलझे नहीं तो ऐसा प्रेमी प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। यह बात जितने सरल ढंग से कही जा रही है यह है, भी उतनी ही सरल। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि वह ईमानदारी (ऑनेस्टी) से इसकी चाहना करे

और उसे न दिखाई देने वाले प्रभु की सत्ता में आस्था करे—यह याद रखें। इसका अर्थ अन्धविश्वास नहीं है। जो भी मनुष्य अपने जीवन की पुस्तक को ठीक-ठीक पढ़ने का प्रयास करेगा और प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं करेगा उसे स्वयं उस अनजाने प्रभु में और उसकी शक्ति में आस्था हो जायेगी। थोड़ा गम्भीरता से विचार करें। आपके चारों तरफ जो सृष्टि फैली हुई है उसमें प्रकृति कितने सुचारु रूप से नियम-बद्ध होकर कार्य करती हैं। समय पर सूरज को उगना ही है और ऋतु अनुसार समय पर वह अस्त भी होगा, यह निश्चित है। दिन का अपना सौन्दर्य है और रात्रि की अपनी आभा। निश्चित समयानुसार प्रकृति में, ऋतु आदि में परिवर्तन होता है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, पृथ्वी तथा अन्य तारागण एक नियमित आधार पर अपने-अपने रास्ते पर चलते रहते हैं। देखें आप सब लोग इन वृक्षों के नीचे बैठे यह प्रवचन सुन रहे हैं और ये वृक्ष कितने बड़े हैं, कितने ऊँचे हैं—परन्तु इतने बड़े-बड़े सायेदार वृक्ष और फलदार वृक्ष कहाँ छिपे हुए थे—एक छोटे से बीज में और जो बीजों का जानकार है वह बीज को देखकर भी बता सकता है कि यह बीज किस वृक्ष का होगा और इससे किस प्रकार का वृक्ष उगेगा। देखिये! यह प्राकृतिक विधान कितना नियमित है और विचित्र भी। इस प्राकृतिक विधान की एक सुन्दरता है कि जिसका बीज आप बोयेंगे उसी का पौधा उगेगा और वह बड़ा होकर अपने ही सदृश अनेकों फल देगा—अर्थात् जिसका बीज है उसी का वृक्ष होगा और उसी का फल और वह भी कई गुणा होकर मिलेगा। जिस महान अदृश्य शक्ति ने इस सृष्टि की रचना की है और जो प्राकृतिक विधान हम देखते हैं, उससे यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक नियम कर्मों के विषय में भी ऐसा ही हैं। इस विधान को चलाने वाला भी जो कि अति कृपालु है, उसके विधान में भी दयालुता का स्थान है। थोड़ा और गहराई से विचार करने से हम उसे अहैतुकी कृपा की संज्ञा भी दे सकते हैं परन्तु इसके लिए सत्य तथा तत्व चिन्तन की आवश्यकता है।

यदि प्रभु की कृपा का साधक को भान होने लगे तो यह संसार जो कि दु:खमय दिखाई देता है वही दु:खलेशशून्य एवं सर्वथा आनन्द-मय-सा हो जायेगा। यह असम्भव-सी बात नहीं है। आत्मविश्वास, निष्ठा एवं प्रभु में आस्था की कमी होने के कारण साधक साधन-पथ पर अग्रसर नहीं हो पाता। जब प्रभु साधक का साध्य बन जाता है, तब इस जगत की समस्त प्राप्त वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि सब साधन रूप हो जाते हैं। जो लोग अपने को भगवान् का भक्त समझते हैं, उन्हें गम्भीरता पूर्वक चिन्तन करना चाहिए कि क्या भगवान अथवा प्रभु उनका लक्ष्य रूपी साध्य है या नहीं ? इतना निश्चय हो जाने पर साधक की ५० प्रतिशत समस्यायें हल हो जाती हैं। यह याद रखें कि जहाँ प्रभु की विस्मृति है और जहाँ विषय-भोगों के प्राप्त करने की इच्छा मात्र है, विषय-भोगों में प्रीति है और उनसे सुख की आशा है वहाँ संसार सर्वथा 'दु:खमय' है। परन्तु जब प्रभु लक्ष्यरूप में साध्य धारण कर लिया जायेगा तब साधक संसार का भगवत्प्रीत्यर्थ ही सेवन करेगा। अनुभव बताता है कि प्रभु को अपना साध्य मानते ही साधक में इस प्रकार का दृष्टिकोण स्वत: जागृत हो जाता है और फिर प्रभु-लीला की पूर्ति के लिए ही संसार के कार्यों में आनन्द लेता है और साथ ही साथ सर्वत्र प्रभु के सान्निध्य का अनुभव भी करता है। इस प्रकार के साधक बिरले ही होते हैं। परन्तु इस कलियुग में भी पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। हाँ ! उन्हें ढूँढ़ना और फिर उन्हें पहचानना बड़ा कठिन है। क्योंकि हो सकता है कि वे बाहर से त्याग के चिह्न न धारण करते हों, पर वे ही यथार्थ त्यागी हैं। यदि आप प्रभु को और शान्ति को चाहते हैं तो आपको भी अन्दर से त्यागी बनना होगा। क्योंकि वास्तव में त्यागी को ही शांति मिलती है—'त्यागच्छान्तिरनन्तरम्' और जहाँ शान्ति है वहीं आनन्द है। ऐसे ही पुरुष संसार में धन्य हैं। इस दृष्टि से संसार को आनन्द से उत्पन्न, आनन्द में स्थित और आनन्द में ही विलीन होने वाला जानकर उसकी आनन्दमयता

का अनुभव करना यही तो प्रभु भक्त के प्रत्यक्ष लक्षण हैं।

अब प्रश्न उठता है कि एक ऐसा व्यक्ति जिसकी अनेक जिम्मेदारियाँ हों, जो एक गृहस्थजीवी भी हो सकता, तो क्या ऐसा व्यक्ति भी आजकल के दूषित वातावरण में अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए भगवान् का भक्त बन सकता है और क्या ऐसा व्यक्ति पूर्व कृत कर्मों के बन्धन में बँधा होने के कारण कर्त्तव्यनिष्ठ तथा प्रभु भक्त बन सकता है ? इस प्रकार का जो प्रश्न मनुष्य के अन्दर उठता है वह स्वयं ही इस बात की ओर संकेत करता है कि उसमें बन्धन से छूटने तथा प्रभु से मिलने की इच्छा है। यदि उसके अन्दर इस प्रकार की इच्छा न हो—जोकि स्वाभाविक है—तो फिर या तो वह मनुष्य नहीं है अथवा उसकी बुद्धि इतनी मन्द है कि वह अपने कल्याण के सम्बन्ध में कुछ भी सोचने या समझने में असमर्थ है। प्रभु का जो मंगलमय विधान है उसके अनुसार आप किसी भी ऐसे कर्म के जिम्मेदार नहीं हैं जो आपकी समझ और सामर्थ्य से बाहर हो। प्रभु का प्राकृतिक विधान ही ऐसा है कि जिस भी परिस्थिति में आपके कर्म बन्धन अनुसार आपको डालता है, उसी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने से आप ऊपर उठ सकते हैं। पाँचवीं कक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थी से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह दसवीं कक्षा के प्रश्नों का उत्तर देवे। यदि पाँचवीं कक्षा का विद्यार्थी अपना अध्ययन सुचारु रूप से करे तो वह उस कक्षा में उत्तीर्ण होकर छठी कक्षा में आ जायेगा, छठी से सातवीं, सातवीं से आठवीं, आठवीं से नवीं आदि। इस प्रकार वह ऊपर उठता जायेगा। यही नियम इस विश्व स्वरूप महाविद्यालय का है। हो सकता है कि आपके मन में यह शंका उत्पन्न हो, प्रायः परिश्रम करने पर भी अच्छे विद्यार्थी असफल हो जाते हैं और न पढ़ने वाले कुछ विद्यार्थी परीक्षाओं में उत्तीर्ण भी हो जाते हैं। हाँ ! यह सत्य है और ऐसा देखा भी जाता है परन्तु यह नियम नहीं है अपितु इस नियम का अपवाद मात्र है। जिस भी अवस्था, परिस्थिति, संग, स्थान आदि में आप रखे गये हैं,

वह प्रभु के मंगलमय विधान के अनुसार आपकी उन्नति के लिए ही है, अवनति के लिए नहीं। मनुष्य योनि कर्म प्रधान है और अपने निज प्राप्त विवेक के प्रकाश में कर्त्तव्यपरायण होकर ही आप उन्नति की सीढ़ी पर चढ़ेंगे—इसका तात्पर्य यह भी है कि आपको अपने कर्मों का भोग करना ही होगा। इस समय अधिक विस्तार में न जाकर मैं इतनी ही बात कहूँगा जिससे आपको कर्म के प्रकार एवं उनके भोगों का कुछ संक्षिप्त परिचय मिल जावे। देखें ! साधारणतया कर्मों को हम दो रूप में बांटते हैं—अच्छे और बुरे। क्या अच्छा है और क्या बुरा। यह एक तुलनात्मक शब्द (Relative term) है। परन्तु अच्छे और बुरे का ज्ञान प्रत्येक मानव को भली प्रकार से होता है यदि वह अपने अन्दर स्थित दर्पण में अपना स्वयं दर्शन करे और उसके अन्दर का दर्पण इतना साफ (Clear) है कि उसमें उसको धोखा नहीं हो सकता, यदि ईमानदारी से वह उसमें अपना दर्शन करे। एक तो उसके दर्पण पर अनेक प्रकार की भावनाओं की धूल जमी रहती है, अनेक प्रकार की वासनाओं से वह चंचल रहता है अथवा विक्षिप्त रहता है, फिर भी वह ऐसा विचित्र दर्पण है कि उससे एक आवाज भी आती है मगर वह उस आवाज को सुनना पसन्द नहीं करता और वह आवाज जो चित्रण उसके समक्ष रखती है, उसके देखने से वह गुरेज करता है और आँख बन्द करता है। परन्तु एक विचारवान मनुष्य चाहे कितना भी कम पढ़ा-लिखा क्यों न हो, इस दर्पण से अवश्य लाभ उठा सकता है।

तो मैं कह रहा था कर्म फल के भोग के बारेमें—कर्म तीन प्रकार के होते हैं, उनका फल भी तीन ढंग से भोगा जाता है। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—यह कर्म के तीन प्रकार हैं। बहुत-बहुत समय से लेकर अब तक के जो आपके कर्म संगृहीत हैं उनको संचित कर्मों के नाम से पुकारा जाता है तथा ये अनन्त हैं और इनमें नये-नये कर्म आकर मिलते रहते हैं। ऐसे संचित कर्मों में से कुछ कर्म फल-प्रदान कराने के लिए समय

एवं प्रकृति अनुसार पृथक कर लिए जाते हैं और उनका फल भोग किसी एक जीवन में एक निश्चित रूप धारण करते हुए प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार से फल देने में प्रवृत्त कर्मों का नाम प्रारब्ध है और हम जो अब नये कर्म कर रहे हैं, इनको क्रियमाण के नाम से पुकारा जाता है जो कि तुरन्त ही संचित कर्मों में मिल जाते हैं। परन्तु इन नये कर्मों में से कुछ ऐसे बड़े प्रबल कर्म भी हो सकते हैं जो संचित से प्रारब्ध में स्थानान्तरित हो जाते हैं। फिर उनका प्रारब्ध के रूप में फल का भुगतान होता है। एक बात इनमें यह और होती है कि कभी-कभी वर्तमान कोई विशेष कर्म किसी पुराने प्रारब्ध का फल भुगताने में निमित्त बन जाता है और ऐसा वर्तमान कर्म संचित में ही रह जाता है। इसके अतिरिक्त भले और बुरे कर्म जो भी मानव करता है उसको तीन प्रकार से उसे भोगना भी पड़ता है—उसी जीवन में, तुरन्त अथवा शीघ्र प्रारब्ध बनकर अनुकूल या प्रतिकूल भोग के रूप में। परन्तु शास्त्रीय प्रमाण इस प्रकार का भी है कि कभी ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि सम्पूर्ण कर्म का तुरन्त प्रारब्ध न बने अपितु आंशिक रूप में ही बने और अधूरा या शेष कर्म संचित में ही रह जाये। दूसरा प्रकार ऐसा होता है जो कि स्वर्ग-नरक लोकों में सुख-दुःख-भोग रूप में भोगा जाये। इसका तीसरा रूप ऐसा होता है जैसे कि अच्छी-बुरी योनियों में सुख-दुःख-भोग रूप में भोगना पड़े। श्रीमद्‌भागवत, गीता एवं पुराणों में स्वर्ग-नरक लोकों का वर्णन मिलता है। अच्छी-बुरी योनियों में भी कर्म फल भोग होता है जैसे पुण्य कर्म करने वाले को अच्छी योनि मिलती है और पाप कर्म करने वाले को बुरी योनि मिलती है। कर्म फल में ऐसा सिद्धान्त लागू नहीं होता कि यदि अच्छे कर्म अधिक हों और बुरे कर्म कम हों तो अच्छे कर्मों में से बुरे कर्मों को घटाकर फल मिलता हो अथवा बुरे कर्म अधिक हों और अच्छे कर्म कम हों तो बुरे कर्मों में से अच्छे कर्म फल घटाकर शेष फल मिलता हो। कर्म-फल-भोग का नियम बड़ा स्पष्ट है कि जो भी किया है उसका पूरा भोग

करना होगा। यहाँ अधिक न कहकर केवल मैं इस बात पर बल देना चाहता हूँ कि यद्यपि मनुष्य योनि उत्तम है और पशु आदि योनियाँ निकृष्ट हैं फिर भी उत्तम योनियों में भी बुरे कर्म के फल स्वरूप जीव को दुःख प्राप्त होता है और निकृष्ट योनि में भी अच्छे कर्म के फल-स्वरूप सुख प्राप्त होता है—जैसे किसी को मनुष्य की ही योनि प्राप्त है परन्तु वह पूर्व कर्मों के फलस्वरूप दरिद्र रहता है अथवा रोग आदि अनेक कष्टों को भोगना पड़ता है। दूसरी ओर निकृष्ट योनि जैसे कुत्ते आदि उसी योनि में रहते हुए भी वह किसी बड़े अमीर घरानेकी होती है वह में रहता है और उसे अनेक प्रकार के सुख आदि विना उसके प्रयास के उपलब्ध रहते हैं।

तो मैं निवेदन कर रहा था कि तीनों कर्मों में 'प्रारब्ध' (जो कर्म फल देने में प्रवृत्त हो चुके हैं) का भोग तो अवश्य ही भोगना पड़ता है, परन्तु यदि मनुष्य अपने विवेक का आदर करे और सच्चे भाव से प्रभु का मंगलमय विधान मान लेवे तो न तो वह सुख में लिप्त होता है और न दुःख में घबराता है और न गिला करता है। यही नहीं यदि ज्ञान के द्वारा भौक्तृत्वबुद्धि मिट जाये तो ऐसे मनुष्य पर सुख-दुःख का प्रभाव नहीं होता। यहाँ पर यह विशेष रूप से याद रखें कि संचित कर्मों का नाश निष्काम कर्मों के द्वारा, प्रभु भक्ति से और ज्ञानाग्नि से सर्वथा सम्भव है। क्रियमाण कर्मों का अभाव भी ज्ञान के द्वारा कर्तृत्वबुद्धि न रहने पर हो सकता है। दूसरा ढंग निष्काम भाव से कर्म करने पर अथवा केवल प्रभु प्रीत्यर्थ उनकी पूजा के रूप में ही कर्म करने पर सभी कर्मों का सर्वदा अभाव हो जाता है।

जो बातें मैंने आपके सामने अभी निवेदन कीं, इनमें से अधिक बातों का ज्ञान आपको स्वयं होगा और साथही आपके मन में अनेकप्रकार की शंकायें भी उठती होंगी और आप सोचते होंगे कि ये बातें अध्यात्म-वाद एवं दर्शन की हैं, जिनका आपके जीवन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है क्योंकि साधारण मानव की धारणाओं के आधार पर आप यह सम-

झने लग गये हैं कि आजकल के मानव-जीवन में इस प्रकार के आदर्शों को निभाना सम्भव नहीं है और अध्यात्म दर्शन का सम्बन्ध तो केवल उन्हीं लोगों तक सीमित है जो लोग इस संसार से वैराग्य लेकर अथवा अलग होकर केवल अध्यात्म साधना में लगे रहते हैं। परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है। 'जीवन-दर्शन' का सम्बन्ध प्रत्येक मानव के जीवन से है जिसके द्वारा वह कर्त्तव्य परायण होते हुए मानव जीवन का जो प्रथम और प्रमुख उद्देश्य है उसे प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक मानव की यह भावना है कि उसे शान्ति मिले, वह उन्नति के पथ पर अग्रसर होवे और उसका जीवन सफल होवे। इस प्रकार का उद्देश्य यद्यपि प्रत्येक मानव का है, फिर भी वह इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन साधनों को अपने जीवन में अपनाता है, वे आमतौर से ऐसे साधन नहीं होते जिससे 'जीव' का कल्याण हो। माया के आधीन भ्रमवश वह ऐसा सोचने लगता है कि यदि उसको सांसारिक सुख-सुविधायें, वैभव, सन्तान, गृह, जमीन-जायदाद, धन आदि हो जाने से उसका जीवन सुखी हो जायेगा और उसका कल्याण भी होगा। यहीं से वह भूल करता है क्योंकि इन चीजों के मिलने से मानव जीवन सफल नहीं होता। मानव जीवन का उद्देश्य हमारे शास्त्रों में स्पष्ट करके हमारे सामने रखा है और वह उद्देश्य केवल भारतीय जीवन का उद्देश्य हो, ऐसा नहीं है अपितु वह उद्देश्य प्रत्येक मानव के लिए समान रूप से है—चाहे वह किसी देश का हो, किसी जाति का हो; चाहे गोरा हो या काला और किसी भी धर्म का मानने वाला हो। मानव-जीवन का लक्ष्य उसका सम्पूर्ण रूप में कल्याण होवे ऐसा है। चौरासी लाख योनियों में केवल मनुष्य योनि ही ऐसी है, जिसे कर्म करने का अधिकार है और कर्म बन्धन से सदा के लिए छूटने की उसमें युक्ति और शक्ति भी निहित है। ८३,९९,९९९ योनियाँ केवल भोग योनियाँ हैं, इनमें देव योनि भी सम्मिलित है। अतः मनुष्य को ही यह विशेष क्षमता प्रभु की अहैतुकी कृपा से प्राप्त है कि वह चाहे तो मानव से देवता अथवा मानव से दानव

बन जाये परन्तु यदि वह मानव रहते हुए अपने कल्याण का साधन करे तो इसके करने के लिए भी उसके अन्दर क्षमता है और उसके अन्दर एक ऐसा दर्पण विराजमान है, जिसकी सहायता से वह सदा के लिए जीवन मुक्त हो सकता है। उस दर्पण को आप 'अन्तरात्मा' कहें अथवा किसी और नाम से पुकारें इससे कोई विशेष भेद नहीं पड़ता। प्रत्येक मनुष्य को सब समय में परमपिता परमेश्वर के विधान के अनुसार उसके अपने अन्तरात्मा से यह आदेश अवश्य मिलता रहता है कि वह क्या करे और कैसे करे, क्या नहीं करे आदि। किन्तु अधिकांश मनुष्य ऐसे हैं जो अन्तरात्मा से उठी हुई आवाज को और आदेश को सुन नहीं पाते। यदि कहीं कोई कुछ सुनता भी है तो वह उसकी उपेक्षा कर जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि मानव उलझन में पड़ जाता है और उसका पूरा जीवन संघर्षमय हो जाता है। यदि हम चाहते हैं कि वास्तव में हमारा कल्याण होवे तो हमको सर्वप्रथम अपनी अन्तरात्मा के आदेश को सुनना होगा और अपने चित्त के दर्पण में अपने आपको प्रत्येक क्षण देखना होगा और अपनी कमजोरियों और बुराइयों को अपने अन्दर से निकाल बाहर फेंकना होगा परन्तु यह भी तब सम्भव होगा जब हम अपने जीवन के लक्ष्य को निश्चित कर लेवें और दृढ़तापूर्वक उस आदर्श को हम अपने जीवन में ईमानदारी से लाने के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयत्न को करें।

कितने आश्चर्य की बात है कि हमको अपने अतिरिक्त सभी-गलत और भूले हुए दिखाई देते हैं और सबको सुधारने का, सारी बुराइयों को दूर करने का एक प्रकार से हम ठेका ले बैठते हैं और विरोधी एक बात भी सुनने के लिए हम तैयार नहीं हैं—हाँ, अपनी-अपनी ही हमें सुनानी रहती है। हम दूसरों की ओर दृष्टि रखते हैं और उनकी गन्दगी एवं अपूर्णता को देखने में तथा उनकी चर्चा करने में ही अपने जीवन का बहुमूल्य अधिकांश समय लगा देते हैं। फलतः अपना मैल धोने के लिए हमारे पास अवकाश नहीं रहता। अपना मैल धोना तो दूर की

बात है, हम भी गन्दे हो सकते हैं और हममें भी कमी हो सकती है, यह सोचने विचारने तक का अवकाश हमें नहीं मिल पाता। कितने आश्चर्य की बात है कि वस्तुत: मैल इसमें चिपटा होता है और हम अपनी कमियों को वैसे ही बना रहना देना चाहते हैं परन्तु हम स्वप्न देखते हैं स्वर्गिक जीवन का। जैसे पहले निवेदन किया है कि जब तक हम परमेश्वर की ओर से आई हुई प्रेरणा को, उनके दिए हुए स्नेहयुक्त आदेश को न सुनने का अथवा सुनकर भी उसकी उपेक्षा कर देने के स्वभाव का त्याग नहीं करेंगे तब तक न तो हमारे जीवन का सुधार होगा और न ही हम सुख-शान्ति के पथ पर अग्रसर होते हुए उन्नति के शिखर पर पहुँच सकेंगे।

इस उलझन को सुलझाने, इस ग्रन्थि को खोलने, इस मानव जीवन को सफलता के शिखर पर पहुँचाने के लिए हमारे ऋषि-मुनियों ने हमारे सामने दो प्रमुख साधनरूपी मन्त्र रखे हैं—प्रभु को मानो और अपने को जानो।

हम सेवन तो करते हैं विष का और फल चाहते हैं अमृत का—क्या कोई भी ऐसी आशा कर सकता है कि विष का सेवन करे और उससे उसको क्षति न पहुँचे ? संसार में उपलब्ध दिखाई देने वाले विष जैसे संखिया आदि का पान कर लिया तो उससे यह शरीर मृतक हो जाता है परन्तु उसका प्रभाव शरीर तक ही सीमित रहता है—जैसे शरीर में जलन होने लगती है, असह्य पीड़ा होती है, हृदय की गति बन्द होने लगती है और प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। इससे अधिक संखिया सेवन करने पर और कुछ भी नहीं होता। क्या आपको ज्ञात है कि कुछ ऐसे भी विष होते हैं, जिनकी क्रिया बड़ी व्यापक होती है और यहाँ तक कि उनका परिणाम भी निर्धारित नहीं होता। ऐसे विष हैं, काम, क्रोध, घृणा, द्वेष, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य। इनका सेवन वाहित शरीर से बहुत कम होता है अपितु इनका सेवन मन के द्वारा होता है और यह दुर्गुणरूपी विष तो ऐसे हैं जो जन्म-जन्मान्तर तक साथ रहते हैं, पीछा

नहीं छोड़ते, सदा जलाते रहते हैं, अनेक प्रकार की यातनायें देते रहते हैं और न जाने कितनी बार जन्म-मरण की मार्मिक पीड़ा देते रहते हैं। प्रत्येक मनुष्य एक साधक है और उसका यह कर्त्तव्य है कि वह इस विष समूह का त्याग करे। यह अत्यन्त आवश्यक है और इसी के लिए साधन-भजन करना है। मनुष्य को साधन-भजन करते हुए भी निज प्राप्तविवेक का आदर करना अत्यन्त आवश्यक है। यह विवेक ही वास्तविक दर्पण है। जो कि सबको प्राप्त है, इसके लिए कहीं कुछ बाहर से नहीं ढूँढ़ना है और न ही अपने सामर्थ्य से जो कार्य बाहर है उसके करने का प्रयास करना है। बस जो कुछ भी हमें प्राप्त है, उसका सदुपयोग करना है। और यदि आप उसका सद्उपयोग करना सीख जायें तो आपकी २५ प्रतिशत समस्याओं का हल प्राप्त हो जाएगा और आपके हृदय में प्रभु अनुराग का उदय होगा। अतः अब मैं सूत्र रूप में उन बातों को आपके सामने रख रहा हूँ जिनको अपनाकरआप साधन पथ पर अग्रसर होते हुए इसी जीवन में उस लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं जिससे आपका यह मानव-जीवन सफल होगा—

१. आप अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर आर दृढ़ता क साथ उस पर वढ़ने का ईमानदारी से प्रयास करें।

२. प्रभु हैं—इसमें आस्था करें। सदा है, सर्वत्र है, आपके अन्दर भी है, सुहृदय है औरसर्वशक्तिमान् है—इस भावना को दिन-प्रतिदिन अपने अन्दर दृढ़ करें।

३. क्या मैं अपने कर्त्तव्य का निष्ठापूर्वक निष्काम भाव से एवं उचित ढंग से पालन कर रहा हूँ या नहीं—इस प्रश्न पर प्रतिदिन चिन्तन और मनन करें। प्रत्येक प्राणी की अपने सामर्थ्य और विवेकअनुसार अवश्य सेवा करें और उसके बदले में कुछ भी न चाहें यहाँ तक कि आपके मन में यह भाव तक न उठे कि वह आपके प्रति कृतज्ञ होवे।

४. अधिक से अधिक प्रभु चिन्तन करें अर्थात् प्रत्येक कार्य के आरम्भ,

मध्य और अन्त में प्रभु चिन्तन होना आवश्यक है।

५. भोजन आदि जो कुछ भी आप ग्रहण करें उसे प्रभु को अर्पण करने के उपरान्त उनका प्रसाद समझते हुए ग्रहण करें। प्रथम पाँच ग्रास लेते समय पाँच प्राणों को अर्पण करें—ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ समानाय स्वाहा तथा ॐ उदानाय स्वाहा।

६. दूसरों के अवगुणों का दर्शन न करें और यदि किसी में कोई बुराई दिखाई भी दे तो उस व्यक्ति से घृणा या द्वेष न करें अपितु उस बुराई से अपने को बचायें। दूसरों में गुणों का दर्शन करें और उनको अपने जीवन में लाने का प्रयास। सत्संग का अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करें और कभी भी किसी का अहित न सोचें न करें। ध्यान रखें सबके हित में ही अपना हित है।

७. प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल और सोते समय प्रभु प्रार्थना अवश्य करें—उससे शक्ति की याचना करें और विचार एवं चिन्तन करें—
   (क) मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, अन्त में कहाँ जाना है, मैं क्या कर रहा हूँ।
   (ख) जो मैं कर रहा हूँ, अन्त में इसका क्या परिणाम होगा।
   (ग) अन्त में जो वस्तु मेरे साथ जायगी उसका मैं संचय कर रहा हूँ या नहीं।
   (घ) मैंने अपने जीवन में अभी तक कितना पुण्य और कितना पाप कमाया है।
   (ङ) वास्तव में मनुष्यजीवन का जो कर्त्तव्य होना चाहिए, वह मैं कर रहा हूँ या नहीं।

मैं उस सर्वशक्तिमान् परमपिता परमेश्वर से यह प्रार्थना करते हुए अपनी वाणी को विश्राम देता हूँ कि वे अपनी अहैतुकी कृपा से हम सबको अपने दर्पण में अपना दर्शन करायें और हमें सद्मार्ग पर चलायें,

जिससे हम सुख-दुःख के बन्धन से ऊपर उठते हुए अपने जीवन को कृतार्थ कर सकें।

सुनहु देव सचराचर स्वामी।
प्रणत पाल उर अन्तर्यामी ।। जय सियाराम···
जीव हृदय तम मोहं बिसेखी।
ग्रन्थि छूट किमि परय न देखी ।। जय सियाराम···
कोमल चित अति दीनदयाला।
कारण बिन रघुनाथ कृपाला ।। जय सियाराम···
मंगल - भवन अमंगलहारी।
द्रवहु सो दशरथ अजिर बिहारी ।। जय सियाराम···
मंगल भवन अमंगलहारी।
उमा सहित जेहि जपत पुरारी ।। जय सियाराम···
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँतीं।
सब तजि भजन करउँ दिन राती ।। जय सियाराम···
अब करि कृपा देहु वर एहू।
निज पद सरसिज सहज सनेहू ।। जय सियाराम···

ॐ

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्धयात्मना वा प्रकृतेस्स्वभावात्।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयामि ।।
ॐ शान्ति शान्ति शान्ति।

संजीवनी

[स्वामीजी के कुछ चुने हुए प्रेरक लेखों एवं प्रवचनों का संकलन]

प्रकाश पुंज

"बिगरी जन्म अनेक की, सुधरै अब ही आजु।
होहि राम को नाम जपु, तुलसी तजि कुसमाजु॥"

पूज्य गोस्वामी तुलसीदास जी के इस दोहे से आज के मानव को, और विशेष रूप से उस व्यक्ति को जो जीवन की अनुपम घड़ियों को व्यर्थ खो चुका है, एक विशेष रूप की सांत्वना, प्रोत्साहन बल एवं उपदेश मिलता है—अब भी समय है, जागो, उठो, कमर बांधो और बढ़ो। जो हुआ, हो चुका, जो है उसको सम्भालो। भूत की घटनाओं को भुलाना है, जिससे हम उन अनुभवों के आधार पर, उनसे शिक्षा ग्रहण कर सकें। तथा वर्तमान में उनकी सहायता लेते हुए, वर्तमान को सुन्दर बना सकें। उसका सदुपयोग करते हुए विशेष वल दिया है दो बातों पर–नामजप तथा कुसंगति का त्याग। जब तक मानव त्याग नहीं करता तब तक उसके हृदय में शान्ति नहीं आती और जब तक वह शान्ति की ओर अग्रसर नहीं होता उस समय तक प्रभु-स्मरण निरन्तर होता रहे ऐसा अनुभव से सिद्ध नहीं हुआ। अतएव त्यागना है उस समाज को, उस स्थल को, उस कर्म को, उस व्यक्ति और विचार को जो हमें कुमति की ओर ले जाये और ऐसा तभी सम्भव है जब हम अपने विवेक का सदुपयोग करें। 'कुसमाज' का शब्दार्थ तो है बुरा समाज परन्तु व्यापक रूप से इस पर विचार करने से यही भाव प्रकट होता है कि बुरे का त्याग करना है चाहे वह विचार हो, कर्म हो, व्यक्ति या परिवार हो। इसकी पुष्टि इस प्रसंग से हो जाती है कि राणा के अत्या-

चारों से तंग आकर जब मीरा ने गोस्वामी जी को पत्र लिखा कि—

"घर के स्वजन हमारे जेते, सबनि उपाधि बढ़ाई।
साधु संग और भजन करत मोहिं, देत कलेश महाई ॥
मेरे मात तात सम तुम हो, हरि भक्तन सुखदाई।
मोको कहा उचित करिबो सो लिखिए समुझाई ॥"

तब इसका उत्तर देते हुए गोस्वामी जी ने लिखा—

"जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही ॥"

यदि हमें वास्तव में प्रभु प्यारा है तो हमें उन सबको त्यागना होगा जो भी इस राह में रुकावट बने। परन्तु त्याग का भाव घृणा या द्वेष नहीं है। जहाँ घृणा और द्वेष होंगे वहाँ पर हृदय में वास्तविक एवं व्यापक प्रेम की जागृति ही सम्भव नहीं है। त्याग हमें निखारता तथा प्रेम का पाठ पढ़ाता है। त्याग के दो स्वरूप हैं—एक तो विषयों का स्वरूप से त्याग तथा दूसरा विषयों की आसक्ति का त्याग। नारद भक्ति सूत्र में आता है कि—

तत्तु विषयत्यागात् संगत्यागाच्च ।*

अर्थात् प्रभु की भक्ति का साधन विषय त्याग और संग त्याग से सम्पन्न होता है। वर्तमान समय में मानव का यह अनुमान सर्वथा निरर्थक है कि विषयों में आसक्त रहते हुए तथा अमर्यादित रूप में विषयों का संग्रह तथा भोग करते हुए भी प्रभु की भक्ति प्राप्त हो सकती है। महाभारत में भी यह कहा गया है कि विषयासक्ति और विषय दोनों ही के त्याग का नाम वास्तव में त्याग है—

त्यागः स्नेहस्य च त्यागो विषयाणां तथैव च ।**

*३५ वां सूत्र

**शान्तिपर्व १९२/१७

तो 'प्रेम' ने 'तजि कुसमाज' का यहाँ पर व्यापक ही अर्थ लेते हुए कुसंग के त्याग की बात कही है अर्थात् जो भी असत्य है उसका त्याग होते ही सत् अथवा सत्य का संग स्वतः होने लगेगा। और इसी को हम वास्तविक सत्संग का रूप समझ सकते हैं।

'होहि राम को नाम जपु' का शाब्दिक अर्थ तो स्पष्ट है ही। व्यापक अर्थ में हमें 'भजन' का भाव लेना चाहिए अर्थात् निरन्तर प्रभु का भजन होता रहे।

असत् के संग का त्याग तथा निरन्तर भजन—इन दोनों के होने से यह निश्चय है, पूर्णतया निश्चय है कि अनेक जन्मों की बिगड़ी हुई दशा वर्तमान में ही सुधर जायेगी क्योंकि 'प्रभु-प्रेम' भविष्य की बात नहीं, यह तो वर्तमान का ही विषय है।

हमारे सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न है कि संसार में सांसारिक व्यवहार एवं कर्त्तव्य-पालन करते हुए भी क्या हम प्रभु भक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं? उत्तर है कि कर्त्तव्यपरायणता तो हमें बन्धनों में नहीं डालती, अपितु बन्धन से मुक्त करती है—ऋण से उऋण करती है। कर्त्तव्यपालन से विद्यमान, राग की निवृत्ति होती है, दूसरों के अधिकार की रक्षा होती है तथा सर्वहितकारी भाव की जाग्रति एवं पुष्टि होती है। यदि किसी कर्त्तव्य पालन से राग बढ़े, दूसरों के अधिकार की क्षति हो तथा सर्व हितकारी भाव क्षीण हो तो यह स्पष्ट समझना चाहिए कि अकर्त्तव्य कर्त्तव्य का रूप धारण करके आ गया है, जिसका कारण ममता, मोह, लोभ, वासना, आसक्ति, स्वार्थ आदि हैं। जहाँ इस प्रकार का प्रमाद एवं आसक्ति है, उसका नाम 'प्रेम' कदापि नहीं हो सकता क्योंकि प्रभु में जो आसक्ति होती है केवल उसी को वास्तविक रूप में 'प्रेम' कह सकते हैं। संसार की आसक्ति का नाम तो 'काम' है। फिर भी इससे छुटकारा पाने का एक सुन्दर उपाय, भक्त के लिए, गोस्वामी तुलसीदास ने बताया है—

"जननि जनक बन्धु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥
सब के ममता त्याग बटोरी। मम पद मनहिं बांध बरि डोरी ॥"
अर्थात् जहां-जहां भी हमारी ममता है—माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, तन, धन, गृह, मित्र, परिवार आदि में—उन सब ममता के सूत्रों को सब स्थानों से तोड़कर एक स्थान पर बटोर कर सबको बंट कर एक मजबूत डोरी बना लेवें तथा अपने मन को इस डोरी द्वारा प्रभु-प्रीतम के चरण-कमलों से कस कर बांध लेवें। ऐसा करने से भगवान अपने हो जायेंगे तथा उनके अतिरिक्त कुछ भी अपना नहीं रहेगा। मजेदार बात तो यह है कि प्रभु ने स्वयं अपने बंधने की यह सुन्दर युक्ति बताई है। कृपया इस पर बार-बार विचार करें, मनन करें, चिन्तन करें और इसे कार्य रूप में परिणत करें। इतना कर लेने पर फिर कुछ करना शेष नहीं रहता क्योंकि भक्त भक्ति होकर भगवान से अभिन्न हो जाता है।

"तू इतना मिटा कि तू न रहे,
और तुझ में दुई की बू न रहे।"

यदि हम में त्रुटियां हैं, हम अपने को असमर्थ पाते हैं या हमारे मन में ऐसा विचार है कि हम पापी हैं तो हमें प्रभु की शरण में जाना चाहिए क्योंकि वह पतितपावन है।

"कोटि विप्र वध लागहि जाहू। आए सरन तजउं नहिं ताहू ॥"

गीता में भी भगवान ने यह आश्वासन दिया है कि यदि कोई अतिशय दुराचारी भी भगवान का अनन्य भाव से निरन्तर भजन करता है तो ऐसे निश्चयवान को साधु ही मानना चाहिए—

"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥"

परन्तु खेद है कि हम उसकी ओर झुकते ही नहीं। 'प्रेम' का ऐसा

विश्वास है कि हम चाहे कितने ही घोर पातकी क्यों न हों, उस ओर झुकते ही वह दयानिधान हमारी सम्भाल आरम्भ कर देता है और ज्यूं-हम उधर अग्रसर होते हैं वह दुगुनी गति से हमारी ओर आता है।

*"If one draws near to God with praise and prayer even hal a **cubic foot, God will go twenty leagues*** to meet him ?

अतएव उस ओर हमें उन्मुख होना है, उत्कण्ठा उत्साह और निश्चय के साथ। वह हमारी रक्षा करेगा, इसमें सन्देह नहीं।

"आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥"

धर्म और प्रेम, सेवा और सुधार तथा राष्ट्र और संस्कृति आदि के नाम पर बड़ा ही उत्पात मचा हुआ है। वास्तव में ये झगड़े सत्य से दूर हैं, असत्य एव भ्रम से परिपूर्ण हैं। धर्म की, देश की, जाति की, राष्ट्र की, संस्कृति की रक्षा, इनके सही नियमों को पालन करने में है न कि विवाद खड़ा करने या शोर मचाने में। 'धर्म संकट में है,' यह नारा झूठा है। यह वास्तव में धार्मिक तथा प्रभु भक्तों का नारा नहीं है। आप जानते हैं यह क्या है ? यह है—

"प्रभुता को सब मरत हैं, प्रभु को मरे न कोय।
जो कोई प्रभु को मरे, तो प्रभुता चेरी होय॥"

आजकल तो सब जगह झगड़ा ही दिखाई देता है—चाहे वह मन्दिर

---

*Arnold

**18 इंच (अर्थात् हाथ भर)

***1 league=3 miles

हो, या मस्जिद, चर्च हो या गुरुद्वारा, मठ हो या विहार, आश्रम हो या सुधार घर। सन्त बुल्लेशाह की एक रुबाई है—

"धर्मशाला विच घाड़वी रहंदे, ठाकुर-द्वारे ठग्ग।
मसीताँ विच कोस्ती रहंदे, आसिक-रहन अलग्ग।।"

इस प्रकार का झगड़ा, अधूरे विश्वास वाले, अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले, अज्ञानता में स्वयं भटकने वाले करते हैं। जो सच्चा प्रभु-प्रेमी है, वह कहता है—

"दिल और कहीं ले चल, ये दैरो हरम छूटें।
इन दोनों मकानों में, झगड़ा नजर आता है।।"

पूज्यपाद श्री गुरुदेव जी ने आज के धार्मिक नेताओं को सचेत करते हुए एक स्थान पर कहा हैं—

"O sons and daughters of the
Koran and the Granth sahib!
O children of Avesta and the Vedas!
O blassed votaries of the
Buddha and the Christ!
BE YE ALL AS ONE,"

मनुष्य से ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है और मनुष्य वही है जिसमें मनुष्यता हो। जब ऐसे अनेक मानव मिलते हैं तब सुन्दर समाज का निर्माण होता है क्योंकि व्यक्ति एक समाज की इकाई है और एक से अधिक होने पर ही समाज तथा राष्ट्र बनते हैं। हम सबकी माँग है 'सुन्दर समाज' परन्तु खेद है कि हम स्वयं सुन्दर बनने के लिए तैयार नहीं। भाई! बड़े-बड़े भवनों से, बड़े-बड़े बगीचों से, बड़ी-बड़ी कलों से और केवल बड़ी-बड़ी योजनाओं से सुन्दर तथा सुशिक्षित समाज और सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण नहीं होता, अपितु होता है उन व्यक्तियों से जो

उसके अंग हैं अर्थात् उन व्यक्तियों के आचार, विचार तथा व्यवहार से—

"You will do the greatest service to the state, if you raise not the roofs of the houses but souls of the citizens, as it is far better that great souls should dwell in mean houses than mean souls lurk in great houses"

तो आज आवश्यकता है कि हम अपने चरित्र का सुन्दर निर्माण करें। इसी से हमारा भला होगा, सुन्दर समाज का निर्माण होगा तथा होगा विश्व का कल्याण। साधक की दृष्टि प्रथम अपने सुधार पर होती है, और उसकी दूसरी दृष्टि दूसरों की सेवा पर अर्थात् जगत की सेवा द्वारा जगत्पति की पूजा। जो समाज एवं देश अथवा राष्ट्र अपनी संस्कृति, धर्म तथा चरित्र-बल को भुला देता है, वह समाज, देश अथवा राष्ट्र शनैः शनैः अपने को अवनति को ओर ले जाता है। क्या ही अच्छा हो यदि आज हम केवल सदाचार पर अधिक ध्यान देवें, उसका सृजन करें, निर्माण करें।

"If everyone would see
To his own reformation,
How very easily
You might reform a nation"

प्रेमामृत

प्रेम—प्रेम वास्तव में गुण रहित ही है अर्थात् वह तीनों गुणों (सत् रज और तम) की परिधि से परे हैं। इस भाव के आधार पर ही कई महापुरुषों ने प्रेम को गुणातीत विशेषण से अलंकृत किया है। जो प्रेम किसी गुण को देख कर होता है, ऐसा प्रेम उस गुण विशेष के अभाव होने पर बदल जाता है, अथवा नष्ट हो जाता है। परन्तु वास्तविक प्रेम में गुणों की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि वह सहज एवं स्वाभाविक होता है और ऐसे प्रेमी को अपने प्रेमास्पद के गुण-दोष देखने का अवकाश ही नहीं मिलता।

प्रेम—प्रेम का असली स्वरूप कामना रहित है। कामना युक्त प्रेम वास्तविकता से दूर ही रहता है। जहां कुछ भी लेने की इच्छा अथवा पाने की कामना है वहां तो प्रेम का पवित्र स्वरूप तथा उसका पावन आसन कुटिल काम के द्वारा कलंकित हो ही जाता है। वास्तविक प्रेम में, प्रेमी एक मात्र प्रेमास्पद को सुखी देखने की इच्छा के अतिरिक्त किसी अन्य स्वार्थ की कामना ही नहीं रखता है।

प्रेम—प्रेम सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर होता है। ऐसा ही प्रेम सच्चा प्रेम है जो कि हृदय की गुप्त गुहा में रहता है और जिसे केवल अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। ऐसे सच्चे प्रेम की न तो व्याख्या ही सम्भव है और न ही वाणी या शब्दों द्वारा उल्लेख। ऐसा प्रेम कभी घटता नहीं अपितु सदा बढ़ता ही रहता है फिर भी प्रेमी को किसी भी अवस्था में अपना प्रेम बढ़ता हुआ नहीं दीखता; इसके विपरीत उसका सदा यह ही भाव रहता है कि मुझमें प्रेम की न्यूनता है और यही कारण है कि इस प्रकार के विच्छेद रहित प्रेम की सतत् वृद्धि ही होती हैं।

प्रेम—प्रेम तत्त्व चर्चा अथवा वाद-विवाद का विषय है ही नहीं। यह निश्चय है कि तर्क-वितर्क से तत्त्व की प्राप्ति कभी भी नहीं होती। यदि कोई कहे 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोध' तो कहना होगा कि किसी अंश में यद्यपि यह सत्य है फिर भी वह 'वाद' दूसरा ही होता है। इस सम्बन्ध में ब्रह्मसूत्र एवं कठोपनिषद के 'नर्कापुत्तिष्ठानान्'। नर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। तथा 'नैषा तर्केण मतिरापनेया।' अर्थात् बुद्धि के तर्क से उस तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती है। जैसे वाक्यों की ओर ध्यान देना चाहिए। प्रेमी तो हर क्षण अपने प्रियतम प्रभु के भजन के निमित्त समर्पण हो चुका होता है उसे दूसरे कामों में लगने का अधिकार रहता ही नहीं। जो अपने को प्रेमी कहते हुए भी तर्क-वितर्क में पड़े हुए हैं, उन्हें यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि वे भ्रम में हैं तथा वास्तविकता से बहुत दूर।

प्रेम—प्रेम के द्वारा प्राणी इस महाभयानक दुस्तर माया रूपी महासागर से सुगमतापूर्वक पार उतर सकता है, यदि वह अपने आपको सच्चा प्रेमी बना ले। अहंकार रहित हुए बिना विषयासक्ति, ममता, काम क्रोध, लोभ इत्यादि से छुटकारा नहीं मिलता। इस भयंकर संसार में गोते खाने वालों के लिए प्रेम एक दृढ़ नौका के समान है, यही एक मात्र परम तत्त्व है और अवलम्ब भी। जिस प्रकार अग्नि का आश्रय लेने पर शीत, भय और अन्धकार तीनों का नाश हो जाता है, इसी प्रकार वास्तविक प्रेम का अवलम्बन मिलने पर पाप रूपी शीत, जन्म मृत्यु रूपी भय तथा अज्ञान रूपी अन्धकार तीनों ही से छुटकारा मिल जाता है और प्रेमी पावनता, अभय तथा ज्ञान प्रकाश की सजीव मूर्ति हो जाती है।

प्रेम-प्रेम वही है जिसमें भेद भाव का लेश भी न हो। उस दिव्य प्रेम में गुण, रूप, योग्यता, विद्या, जाति, कुल व सम्पत्ति तथा क्रिया आदि की प्रमुखता तथा न्यूनता आदि का भेद नहीं होता। शबरी तथा निषाद जन्म से नीच जाति के थे और शबरी तो गंवार स्त्री थी, विदुर जी तथा

सुदामा जी निर्धन थे, विभीषण तथा हनुमान जी आदि कुरूप और अकुलीन राक्षस तथा वानर थे, सदन कसाई था, धन्ना गंवार था, ध्रुव पढ़े लिखे नहीं थे तथा गोपिकाएं क्रियाहीन थीं; फिर भी इन सबने भक्ति और प्रपत्ति के प्रताप से प्रभु का प्रेम प्राप्त किया था—वह प्रेम जो योगियों को भी दुर्लभ है। अतएव प्रभु का प्रेमी वही हो सकता है, जो अपना सर्वस्व उन पर न्यौछावर कर निश्चित हो। सतत् उनके भजन में प्रेमपूर्वक तल्लीन रहे। ऐसा प्रेमी, जिसे प्रेम रूपी परम दुर्लभ धन मिल जाता है, इस भयंकर सागर से पार हो जाता है, फिर वह चाहे कोई क्यों न हो।

प्रेम—प्रेम के दिव्य रस में डूबा हुआ प्रेमानन्दमय प्रेमी सर्वत्र अपने प्रियतम को ही देखता है। इसके अतिरिक्त न उसे कुछ सुनाई देता है और न ही अन्य कुछ दिखाई देता है। ऐसी विचित्र अवस्था में उसके कानों में जो भी ध्वनि अथवा स्वर पड़ता है, वह एक मात्र प्रेममय के प्रेम संगीत की स्वर लहरी ही होती है, जिसकी मधुर तान में वह सदा मस्त रहता है। बोलने का उसे अवकाश नहीं होता और यदि किसी प्रकार उसके मुख से कुछ शब्द निकलते भी हैं तो उनका आधार तथा सम्बन्ध केवल अपने प्रेममय प्रियतम प्रभु से ही होता है। उसकी समस्त क्रियाएं तथा हाव-भाव केवल अपने प्रियतम प्रेमास्पद के ही लिए होते हैं, क्योंकि वह प्रियतम के ही अखंड साम्राज्य तथा पूर्ण अधिकार में रहता है।

प्रेम—प्रेम को प्राप्त करके प्रेमी उसको ही सुनता है—'तदैव श्रृणोति'। अर्थात् जो भी शब्द कान में पड़ते हैं प्रेमी को प्रेम ही जान पड़ता है। प्रेम भरी दृष्टि सर्वत्र प्रेम का ही दर्शन करती है। ऐसे प्रेमी की दृष्टि से केवल प्रेम ही छलकता है। प्रेमी की वाणी में प्रेम-रस ही होता है चाहे वह अटपटी क्यों न हो।

"सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे"

क्या प्रभु राम केवट के बैन सुनकर क्रुद्ध हुए ? नहीं ! अटपटे होने पर भी प्रेम-मधु में डूबे हुए थे। वह वचन उनमें मधुरता के अतिरिक्त और कुछ था नहीं। भगवान को चरण बढ़ाने ही पड़े, धुलाने ही पड़े। जानकी रूपी रमा और लक्षमण रूपी शेषनाग देखते ही रह गये। हृदय में प्रेम आने पर सर्वत्र प्रेम ही दीखता है प्रेमी को। फिर ऐसे प्रेमी का स्वभाव प्रेममय हो जाता है।

प्रेम—प्रेम सर्वत्र कोमल ही होता है, उसमें कटुता नहीं होती है परन्तु उसमें दृढ़ता की पकड़ होती है। ईश्वर मधुराधिपति हैं, मधुसूदन हैं। प्रेम जहां केन्द्रित हुआ वहां ही विकार उत्पन्न हुआ और स्वार्थ का रूप बना तथा मधुरता नष्ट हो गई। प्रेम की व्यापकता स्वाभाविक है। अतः सचेत साधक द्वारा प्रेम का विकेन्द्रीकरण होता है। प्रेम के विकेन्द्रीकरण का अर्थ है—वैयक्तिक हितों और स्वार्थों का त्याग, ममता, मोह, वासना, लोभ मद आदि से ऊपर उठना। श्रद्धा, विश्वासयुक्त पवित्र दृढ़ता ही सच्चे साधक को जन-सेवा के माध्यम से जनार्दन की पूजा में लगाती है—साधक 'प्रवृत्ति' का त्याग कर 'निवृत्ति' की भूमिका में स्वतः प्रवेश करता है।

परम प्रेम, पावन प्रेमी प्रियतम प्रभु की जय हो !

पारसमणि

इस सत्य-भासित संसार के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं, शान्ति चाहते हैं—मानव मात्र की माँग है परम सुख। चिरशान्ति। परन्तु ऐसा सुख, ऐसी शान्ति इस परिवर्तनशील जगत में है ही कहाँ, जो स्वतः दुःखों का घर है और है जहाँ अशान्ति का साम्राज्य। असार संसार के बाह्य-रूप में सारतत्व की खोज भी माया का एक भ्रमिक कार्य-क्रम है। जगत को जानने के लिए परमसुख तथा चिरशान्ति के लिए सब सुखों की खान, शान्ति के भण्डार सर्वेश्वर, जगदाधार को ही जानना होगा। यह ही मानव-मात्र का परम कर्त्तव्य, वास्तविक माँग तथा एक मात्र लक्ष्य है और इसी को जानने, समझने व पाने की अनेक साधनाएँ तथा मान्यताएँ इस संसार में प्रचलित हैं।

वास्तव में यह अति दुर्लभ मानव-तन संसार के विश्व विद्यालय में (उपरोक्त) दोनों बातों की सीख और योग्यता प्राप्ति द्वारा उस अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के ही लिए मिला है --

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रान्ति भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर, जिसके आगे राह नहीं है।।"

अतएव बिना ठहरे हुए बढ़ते जाएँ। यदि गिरें तो फिर उठें और आगे बढ़ें, ठोकर खाएँ, फिसलें और असफल हों तो भी चिन्ता न करें, सम्भलें, उठें, सहारा लें और फिर सतर्क हो दृढ़तापूर्वक आगे कदम रखें। पहले कर्त्तव्य को निश्चित करें और वास्तविक माँग को विचार-पूर्वक आवश्यकता का रूप देवें तब तक मात्र लक्ष्य की प्राप्ति हेतु, अपनी साधनाओं पर पूर्ण विश्वास तथा साध्य पर अटूट श्रद्धा रखते हुए, उत्साह पूर्वक अग्रसर हों। साधन जीवन के कुछ भाग का ही अंग न रहे बल्कि समस्त जीवन का साधनामय होना आवश्यक है और

बिना लक्ष्य निर्धारित किए हुए यह सम्भव नहीं है।

In fact, there is no human life without aim and no life without love.

साधारणतया देखने में आता है कि आज के मानव की प्रवृत्ति, अपने आपको दानी कहलाने में, सेवक, भक्त आदि पुकारे जाने में बड़ा सन्तोष सुख और वड़प्पन आदि का अनुभव करने में है, जबकि न तो वह दान और दानी को जानता है, न वह सेवक और सेवा को समझता है और न भक्ति और भक्त की भावनाओं का आदर ही करता है। जिस धर्म, देश, समाज आदि में इस प्रकार के ढोंग और ढोंगियों की पैदावार बढ़ जाती है, देखने में आया है कि ऐसे धर्म, देश तथा समाज आदि का शनैः-शनैः लोप हो जाता है। हमारा धर्म, हमारा देश तथा हमारा समाज आज इस रोग से अत्यधिक पीड़ित हो रहा है। अभी समय है सम्भलने का और यदि अब भी न सम्भलें तो भविष्य में यही भ्रमात्मक अहंयुक्त ढोंग हमें, हमारे देश धर्म और समाज को सदा के लिए रसातल में पहुँचा देगा।

अर्थ का अनर्थ अधिकतर तभी होता है जबकि हमारी भावनाएँ किसी रूप में भी मद, मोह, सन्देह, आवेश तथा अज्ञानता के प्रभाव से पीड़ित हों। यदि "अर्थ" को धन के रूप में लेवें तो इसके दुरोपयोग अथवा अन्धी लालसा से इक्कीस (२१) अनर्थों का जन्म होता है—

१. झूठ २. कपट ३. चोरी ४. क्रोध ५. भेद ६. रिश्वत ७. मद ८. चोर बाजारी ९. जुआ १०. दम्भ ११. स्पर्धा १२. वैर १३. काम १४. मद्यपान १५. लम्पटता १६. अभिमान १७. हिंसा १८. अविश्वास १९. विश्वासघात २०. द्वेषयुक्त घृणा २१. अमानवता।

इन "अनर्थों" से हमको सदा सचेत रहना परम आवश्यक है।

वास्तव में प्रत्येक साधन का आरम्भ सेवा और त्याग से ही होता है और जिसका अन्त "प्रेमरूपी परमानन्दमय नित-नव-रस" की प्राप्ति

में है। साधन रूपी भूमि में साधन-तत्व को बीज रूप में डालना है, नित्य निरन्तर कठोर अभ्यास रूपी जल से इसको उत्साह पूर्वक सींचना है, नम्र रहते हुए विश्वास रूपी वायु तथा गुरु-उपदेश-रूपी ज्ञान-प्रकाश से अंकुर को पल्लवित करना है, जिससे सेवा रूपी वृक्ष उत्पन्न होगा और इस वृक्ष में त्याग रूपी फल लगेंगे तथा इन फलों से प्रेम रूपी रस की प्राप्ति होगी। यह स्मरण रखें कि यदि साधक ऐसा नहीं करता तो स्वार्थ रूपी भूमि में राग रूपी वृक्ष विष की उत्पत्ति होगी, जिसका फल मोह रूपी होगा और उस फल का रस विष रूपी होना निश्चित है। जब साधक सेवा का अभिमान नहीं करता है और न ही सेवक कहलाने की इच्छा रखता है तब परिणाम में उसकी सेवा त्याग में बदल जाती है। ऐसा त्याग जिसका फल शान्त और अमरत्व है। यही अथवा इसी प्रकार के निराभिमानी त्याग से जिस उत्तम शान्त रस की उपलब्धि होती है, और जब साधक उस रस में भी अपने को आबद्ध नहीं होने देता तब यही त्याग परम-प्रेम में बदल जाता है और इसी परम-प्रेम को हम पराभक्ति की उच्चकोटि की स्थिति कह कर पुकारते हैं।

संस्कृति, यथार्थवाद, धर्म, प्रगति, शान्ति और प्रेम के नाम पर संसार में और विशेष रूप से भारत में आजकल जो अनर्थ हो रहे हैं उनकी गणना में, अन्य अनर्थों के जो आंकड़े हैं, वे सब फीके पड़ जाते हैं। कितने खेद का विषय है यह जब कि—

"प्रेम" को सबसे अधिक दुःख संसार में प्रेम की इस दुर्दशा को देखकर होता है। कितना बदनाम हो गया है प्रेम आजकल के प्रेमी-मानव कहलाने वाले दम्भी अमानवों के बीच में पड़कर।

'Love ! What a volume in a word
An ocean in a tear !
A Seventh heaven in a glance
A whirlwind in a sigh !

The lightning in a touch
A millennium in a moment!
What concentrated joy or woe
It blessed or blighted love!'

कितना विचित्र है ढाई अक्षरों का यह शब्द 'प्रेम', कितना रहस्य छिपा हुआ है इसमें, कैसी अनोखी है इसकी भाषा, कितनी अद्‌भुत है इसकी परिभाषा, कितना विस्तृत है इसका क्षेत्र, कितना महान है इसका भाव, कितना अनन्त व अमोघ है यह प्रेम —ऐसे प्रेम के सार को, वह कौन से शब्द हैं जिनके द्वारा व्यक्त किया जाए। सत्य नारायण जी ने सत्य ही कहा है कि प्रेम की सारी परिभाषाएँ अधूरी ही हैं —

"उल्टा पल्टी करहुं निखिल जग की सब भाषा ।
मिलहि न पै कहूं एक प्रेम-पूरी-परिभाषा ।।"

फिर इस प्रेम का स्वाद भी अनोखा है क्योंकि इसको चखते ही बड़े से बड़ा वक्ता भी गूंगा हो जाता है—

"प्रेम हृदय की वस्तु है, परम गुह्य अनमोल।
कथनी में आवै नहीं, सके न कोऊ तोल ।।
रसमय आनन्दमय विमल, दुर्लभ यह उन्माद।
अकथनीय पै अति मधुर, गूंगे को-सों स्वाद ।।"
(प्रेम शतक)

ऐसे ही अनुपम प्रेम पर "प्रेम" को कुछ बोलना है आज, यद्यपि यह नामधारी "प्रेम" ऐसे अनन्त व विमल प्रेम के विषय पर कुछ भी कहने का अधिकारी नहीं है—बोलना है इसलिए बोलेगा, जैसा "वह" बुला दे।

प्रेम वास्तव में वही प्रेम है जिसमें केवल देना ही हो। प्रेम का स्वरूप कुछ माँगने में नहीं बल्कि अपना सब कुछ दे डालने में है। सुख

की आशा का जन्म 'ममता', 'वासना' या 'स्वार्थ' से होता है, 'प्रेम' से नहीं। जब तक प्रेमी अपने आपको मिटाने के लिए, अपना सब कुछ प्रेम की वेदी पर न्यौछावर करने के लिए तैयार नहीं होता तब तक न तो वह प्रेमी है और न ही वह प्रेम का मर्म जानता है। प्रेम का उन्मत्त पथिक तो केवल यही जानता है कि—

"मुहब्बत में लाज़िम है कि जो कुछ भी हो फिदा कर दे।"
—जिगर

"असगर हरीम इश्क में हस्ती ही जुर्म है।
रखना कभी न पाँव यहाँ सर लिए हुए।।"

जिस प्रेम में विकारयुक्त लालसा है, जिसमें किसी भी प्रकार के स्वार्थ की गन्ध आती है, जहाँ अपना कुछ भी शेष रह जाता है, वहाँ न तो वास्तविक प्रेम का आनन्द आता है, न प्रेमास्पद का दर्शन ही होता है। जब तक मिटने या मरने से डर लगता है तब तक भाई प्रेम कहाँ! वास्तव में प्रेम-पथ में मरने-मिटने को ही जीवन कहते हैं। कबीर जी ने भी एक दोहे में ऐसा कहा है—

"जबलगि मरने से डरै, तब लगि जीवन नाहिं।
बड़ी दूर है प्रेम-घर, समझ लेहु मनमाहिं।।"

भिन्न-भिन्न ऋषियों, महात्माओं और आचार्यों ने "प्रेम-रूप-भक्ति" का विभिन्न रूप से वर्णन किया है तथा इनके स्वरूप और लक्षण की व्याख्या भी अलग-अलग की है। "नारद-भक्ति-सूत्र" में देवर्षि नारद ने भक्ति के विषय में बहुत कुछ कहा है और भक्तों के रूप में प्रातः स्मरणीया गोपिकाओं को "प्रेमिका-शिरोमणि" के नाम से पुकारा जाता है क्योंकि इन सब ने अपना तन-मन-धन तथा लोक और परलोक सभी कछ अपने प्रभु-प्रीतम श्री श्यामसुन्दर के समर्पित कर दिया था। तभी तो श्री उद्धव जी के ज्ञानोपदेश करने पर तथा श्याम की पाती लाने पर प्रेममयी गोपिकाओं ने उनसे कहा था—

"स्याम तन स्याम मन स्याम है हमारो धन,
आठो जाम ऊधौ हमें स्याम ही सो काम है।
स्याम हिये स्याम जिये स्याम विनु नाहिं तिये,
आँधे की-सी लाकरी अधार स्याम नाम है।।
स्याम गति स्याम मति स्याम ही है प्रानपति,
स्याम सुखदाई सों भलाई सोभा धाम है।
ऊधौ तुम भए बौरे पाती लेके आये दौरे,
जोग कहाँ राखै यहाँ रोम-रोम स्याम है।।"

यही कारण था कि भगवान ने स्वयं गोपिकाओं से कहा था कि "हे गोपिकाओ ! तुमने मेरे लिए क्या कुछ नहीं किया। माया, मोह, और गृहस्थ को कठिन, कठोर जंजीरों को तोड़कर सर्वथा निर्दोष तथा निःस्वार्थ रूप से तुमने मेरा भजन किया। यदि मैं तुम्हारे इस उपकार ऋण से उऋण होना चाहूं तो भी देवताओं की आयु पर्यन्त मैं तुम्हारा बदला नहीं चुका सकता। यह तो केवल तुम्हारी ही उदारता होगी जिसके द्वारा मैं ऋण मुक्त हो सकूंगा। श्री मद्भागवत में स्वयं भगवान श्री कृष्ण के वाक्यों का इस प्रकार उल्लेख है—

"न पारयेऽहं निखष्संयुजां
स्वसाऽकृत्यं बिबुधायुषादि वः।
या माभजन दुर्जरगेहश्रृंखलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियानु साधुना ।।

आजकल के पढ़े-लिखे कई सज्जनों से ऐसे अनुचित तथा अश्लील वाक्य भगवान् श्री कृष्ण एवं श्री गोपिकाओं के सम्बन्ध में सुनने को मिले हैं कि उनकी अज्ञानता के प्रति केवल खेदयुक्त सहानुभूति तथा प्रभु से उन्हें क्षमा करने की प्रार्थना के अतिरिक्त "प्रेम" और कुछ करने में असमर्थ रहा है। ऐसे सभी सज्जनों से यही निवेदन है कि वे श्री स्वामी विवेकानन्द जी के उन वाक्यों की ओर ध्यान दें जो

उन्होंने इस सम्बन्ध में कहे हैं—

'First make yourself pure, You must remember that he who tells the history of the love of the Gopies is one who was born pure, the eternally born shuka, the son of Vyasa. So long as there is selfishness in the heart, so long love of God is impossible. Forget for the love of God, name and fame and this trumpery world of ours. Then, only then, you will understand the love of Gopies too holy to be attempted without giving up everything, too sacred to be understood until the soul has become perfectly pure.

ज्ञानयोग, राजयोग, कर्मयोग, आदि सभी को यदि देखा जाये तो, भक्तियोग ही सब में सुलभ और सबके पहुंच की है—बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, ऊंच-नीच आदि । भक्ति ग्रन्थों में भक्ति के सात अधिकारी बतलाये गये हैं—

१. आचरणों से नीच, २. जात से नीच, ३, वैश्य, ४. शूद्र, ५. स्त्री ६. पवित्र ब्राह्मण, ७. राजर्षि ।

इसका तात्पर्य यही है कि सभी मनुष्य अधम से अधम, मतिमंद, दुराचारी आदि भक्ति के द्वारा अपना उद्धार कर सकते हैं और यदि पवित्र आचरण वाले ब्राह्मण तथा क्षत्री प्रभु भक्त हों तो उनके उद्धार के विषय में तो शंका हो ही नहीं सकती । मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम ने स्वयं भक्त भीलनी शबरी से कहा था—

"कह रघुपति सुनु भामिनि बाता । मानहुं एक भगति कर नाता ।।
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई । धन बल परिजन गुन चतुराई ।।
भगति हीन नर सोहइ कैसा । बिनु जल बारिद देखिय जैसा ।।"

भगवान् ने श्री गीता के ६वें अध्याय के अन्तिम पाँच श्लोकों में इसी मर्म की बात कही है—

"यदि दुष्ट भी भजता अनन्य सुभक्ति को मन में लिए।
है ठीक निश्चयवान उसको साधु कहना चाहिए।।
वह धर्मयुत हो शीघ्र शाश्वत शान्ति पाता है यहीं।
यह सत्य समझो भक्त मेरा नष्ट होता है नहीं।।
पाते परमपद पार्थ ! पाकर आसरा मेरा सभी।
जो अड़ रहे हैं पाप-गति में वैश्य वनिता शूद्र भी।।
फिर राज-ऋषि पुण्यात्म ब्राह्मण भक्त की क्या बात है।
मेरा भजन कर तू दुखद नश्वर जगत में तात है।।
मुझ से तू लगा मन, भक्त बन, कर जन पूजन वन्दना।
मुझ से मिलेगा मत्परायण युक्त आत्मा को बना।।"

यह तो निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि श्री भगवान को केवल एक ही बात प्रिय है जिससे वे सन्तुष्ट होते हैं और वह है 'भक्ति', वह है 'भाव'। यह है पासपोर्ट उनके साम्राज्य में प्रवेश करने का, 'भक्ति' ही ऐसी डिग्री है जिसको वहाँ देखा जाता है।

"भक्त्या तुष्यति केवलं न य गुणैर्भक्ति प्रियो माधवः"

अब देखिए बात सुलभता की। ज्ञान, कर्म, राजादि योग के लिए जिस कुशाग्र बुद्धि, तीव्र जिज्ञासा तथा अटल निश्चय, दृढ़-सत्य-संकल्प, पुष्ट देह तथा अधिकार व तप आदि की आवश्यकता है, आजकल साधारणतया प्राणी में इनका अभाव पाया जाता है। इसके विपरीत भक्ति प्राप्ति में न तो श्रेष्ठ कुल प्रयोजनीय है, न उच्च वर्णाश्रम ही। इसके लिए अधिक विद्या, वेदाध्ययन, धन, कठोर तप आदि की भी आवश्यकता नहीं है। यदि कुछ अनिवार्य है तो केवल निज विवेक का आदर करते हुए, प्राप्त सामर्थ्य व योग्यता के सदुपयोग द्वारा, सरल भाव से सर्वत्र विद्यमान प्रभु की अपार कृपा पर विश्वास करके, सतत प्रेम-युक्त हो प्रभु स्मरण की तथा संत महात्माओं के सत्सग का अधिक

से अधिक लाभ उठाए जाने की। सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद् गीता में ७०० श्लोक हैं। जिनमें अनेकों शब्दों का प्रयोग हुआ है परन्तु शब्द 'सुलभः' (अर्थात् सुलभ) का प्रयोग केवल एक ही बार ८वें अध्याय के १४वें श्लोक में हुआ है। इसमें अनन्य मन से निरन्तर प्रभु-चिन्तन की बात कही गई है श्री भगवान का ही शुभ वाक्य है—

"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥"

थोड़ा सा गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि इस स्थान पर शब्द 'सुलभः' में बड़ा रहस्य छिपा हुआ है। सांसारिक व्यक्ति, वस्तु, सम्पत्ति, सम्मान आदि, जो पुरुषार्थ से प्राप्त हो सकते हैं, उनके लिए हम चिन्ता करने के आदी हो गये हैं। प्रभु (प्रेमास्पद) जो कि 'चिन्तन' द्वारा ही प्राप्त होते हैं, उनके लिए हम पुरुषार्थ करते हैं। कैसी उलटी बात है, प्रभु नाम का जप कीजिए, अधिक से अधिक प्रेम पूर्वक, निरन्तर तथा दीर्घकाल तक शुद्ध भाव से, चिन्तन बाद में स्वतः होने लगेगा।

देवर्षि नारद जी ने अपने 'भक्तिसूत्र' में जहाँ 'प्रेम-रूप-भक्ति' के साधन के विषय में वर्णन किया है, वहाँ सबसे अधिक जोर महापुरुषों की कृपा व सत्संग पर ही दिया है—

"मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवतकृपालेशाद्वा।
महत्संगस्तु दुर्लभोअगम्योअमोघश्च।
लभ्यतेअपि तत्कृपयैव।
तस्मिंस्तज्जने भेदभावात्॥
तदैव साध्यतां तदैव साध्यताम्॥

(नारद भक्ति-सूत्र ३८ से ४२ तक)

अर्थात्—प्रेमरूपा भक्ति का साधन मुख्यतया महापुरुषों की कृपा या भगवान की लेशमात्र कृपा से सम्पन्न होता है। यद्यपि सच्चे

महात्माओं का संग बहुत दुर्लभ है और यदि मिल भी जाये तो उनकी पहचान करना तो और भी कठिन है, परन्तु सौभाग्यवश यदि अनजाने में भी ऐसे महात्मा का संग मिल जाए तो भी वह व्यर्थ नहीं जाता। अवश्य फलदायी होता है—यानी 'अमोघ' है। (यह बात दूसरी है कि अज्ञात तथा अपरिचित होने के कारण जो भी लाभ प्राप्त होवे, उसका व्यक्ति को पता न चले) साथ ही भगवान की ही कृपा से ऐसे महात्माओं का संग मिलता है। क्योंकि उस प्रभु-प्रीतम में और उसके प्रेमी भक्तों में कोई भेद शेष नहीं रहता। अतः उपरोक्त अन्तिम सूत्र में नारद जी इस बात पर विशेष रूप से पुनः जोर देते हुए कहते हैं, "उन महापुरुषों के सत्संग की ही साधना करो, उसी महत्संग की साधना करो।"

श्री रामचरितमानस में भी सत्संग के विषय में बहुत कुछ कहा गया है।

उदाहरणार्थ—

भक्ति सुतंत्र सकल गुण खानी। बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी ॥
भक्ति तात अनुपम सुख भूता। मिलइ जो संत होइ अनुकूला ॥
अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहीं संता ॥
। सतसंगति संसृति कर अंता ॥

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।
। मोते संत अधिक करि लेखा ॥
बिनु सतसंग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥

श्री कबीर जी तथा प्रेमी-भक्त रैदास जी के विचार भी इस सम्बन्ध में इसी प्रकार के हैं—

'राम बुलावा भेजिया, 'कबिरा' दीन्हा रोय।
जो सुख प्रेमी-संग में, सो बैकुण्ठ न होय ॥ (कबीर जी)

"आज दिवस लेऊँ बलिहारा
मेरे गृह आया पवि का प्यारा।" (रैदास)

भगवान् श्री कृष्ण जी ने गीता में कहा है कि, "जो जन प्रेम पूर्वक मुझे भजते हैं, वे मुझ में हैं और मैं उनमें हूँ।"

"ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।" (६/२१)

अनन्य तथा विशुद्ध प्रेम में ही केवल वह महान शक्ति छिपी है जिसके कारण प्रिय श्याम सुन्दर सीधे वश में हो जाते हैं। तभी तो—

"सेस, महेश, गनेश, दिनेश, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि, अनन्त, अखंड, अछेद, अभेद, सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥
(रसखान)

अब यह प्रेम प्राप्त कैसे हो। ऐसा अनन्य तथा विशुद्ध प्रेम प्राप्त होता है महापुरुषों की कृपा तथा उनके सत्संग से। श्री मद्भागवत में भगवान ने अपने प्रिय सखा उद्धव से कहा है कि 'मैं ज्ञान, योग, तप, व्रत, त्याग, वेदाध्ययन, यज्ञ आदि से तीर्थ पर्यटन अथवा तीर्थ-सेवन, यम नियम और धर्म के पालन से वैसा वशीभूत नहीं होता हूँ, जैसा कि सम्पूर्ण संगों के निवारक प्रेमी-महात्माओं के केवल 'सत्संग' मात्र से।

"न रोधयति मां योगो न साख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानिश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संग सर्वसंगापहो हि माम्॥"
(११/१२/१-२)

अतएव आप सब सत्संग करें और कुसंग से बचें, जाप, सेवा आदि

के साथ-साथ अच्छे और बुरे दोनों ही कर्म बन्धन के हेतु हैं। यह तो केवल भ्रम है कि पुण्य-कर्मों के करने से मोक्ष मिल जाता है। भाई! पुण्य कर्मों की जंजीर तो और भी अधिक मजबूत है। यदि बुरे कर्मों के करने से लोहे की जंजीर का बन्धन प्राप्त होता है तो अच्छे कर्मों से सोने की जंजीर प्राप्त होती है। अब आप स्वयं विचार करें कि लोहे की जंजीर का त्याग सुगमता से हो सकता है, या सोने की जंजीर का। 'तो क्या हम सब कर्म करना ही बन्द कर दें' सो असम्भव ही है। हाँ केवल भाव में परिवर्तन करके कर्मों के बन्धन से छुटकारा मिल सकता है अन्यथा नहीं।

ज्ञानी का भाव है कि 'वह अकर्ता है, अभोक्ता है'।

कर्म-योगी निष्काम भाव से अपने कर्त्तव्यों का 'कर्त्तव्य के हेतु' पालन करता है तथा आसक्ति का त्याग करता है। भक्त भगवान का काम समझकर अनासक्ति भाव से, केवल प्रभु को प्रसन्न करने के लिए उनकी पूजा-रूप में, प्रभु की आज्ञा समझकर हेतु कर्म में प्रवृत्त होता है—

इस प्रकार उसका सम्पूर्ण जीवन साधनामय हो जाता है।

अतएव बन्धन से मुक्ति के लिए कर्म में निष्कामता का होना अनिवार्य है अन्यथा कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाए आसक्ति तथा सकामता रहते हुए मोक्ष-प्राप्ति असम्भव ही है। यदि कोई कर्मों का त्याग करना चाहता है तो यह एक स्वप्न होगा जिसकी पूर्ति कभी न हो सकेगी क्योंकि—

"बिन कर्म रह पाता नहीं कोई पुरुष पल भर कभी।
हो प्रकृति-गुण आधीन करने कर्म पड़ते हैं सभी॥"

(भगवानवाक्य गीता ३-५)

यह सदा स्मरण रखें कि जिन विचारों, प्रवृत्तियों तथा कर्मादि से

दूसरों का हित होता है वह प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष। उनसे कर्ता का हित ही होगा। यह तो प्राणी का भ्रम-मात्र है कि दूसरों के अहित द्वारा उसका अपना हित हो सकता है। यह कभी न भूलें कि दूसरों को धोखा देने से पूर्व अपने आपको धोखा देना होगा, दूसरों की बुराई या बुरा करने से पहले अपनी बुराई करनी होगी, अपना बुरा करना होगा। जहाँ तक, यदि पूर्णतया सम्भव न हो, दूसरों का भला करें उनके बुरा करने पर भी, तभी अपना भला होगा।

सेवा में अन्तःकरण शुद्ध करने की अमोघ शक्ति छिपी है। सेवा-तत्व की व्याख्या यदि संक्षेप में की जाए तो कहा जा सकता है कि जिस कर्म के द्वारा दोनों का हित हो और दोनों को सुख मिले एवं जिसमें किसी प्रकार के स्वार्थ की गन्ध-मात्र भी न हो और जिस सेवा में हेतु या अभिमान न हो, वही सच्ची सेवा है। इसीलिए कहा जाता है कि इस असार संसार में उसी प्राणी का जीवन धन्य है जो सेवायुक्त है, जो हृदय में अपने को सेवक रूप में दास मानता है (वाह्य या दम्भ रूप में नहीं) तथा सम्पूर्ण जगत में जो कुछ भी दृष्टिगोचर है, सबको ही अपने स्वामी की मूर्ति मानता है।

"सो अनन्य जाकी असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवंत॥"

विचार कीजिए कि श्री रामचरित मानस के इस दोहे में एक भक्त सेवक के लिए कितना सार-गर्भित उपदेश निहित है।

सन्तों, महात्माओं आदि के विषय में, उनके हृदय स्वभाव और आचरण के विषय में 'प्रेम' को यह अधिकार ही कहाँ है कि वह कोई टिप्पणी करे। श्री तुलसीदास जी ने सन्त-हृदय की विशेषता बड़े ही सुन्दर शब्दों में रामचरितमानस के उत्तरकांड में की है—

"सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहइ न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुःख द्रवहिं सु सन्त पुनीता॥"

दूसरों को भोजन-वस्त्र देना, द्रव्य-सहायता करना, रहने को स्थान देना, शुश्रूषा करना तथा किसी प्रकार की सहायता करना आदि को ही साधारणतया लोग सेवा के अर्थ में लेते हैं परन्तु सेवा में अनेक आन्तरिक भावों का समावेश है। सेवा वास्तव में तभी सेवा समझनी चाहिए जब कि उससे दिन प्रतिदिन उत्तरोत्तर त्याग, प्रेम, तेज, दया, उदारता, निष्कपटता, सरलता, उत्साह आदि जैसे दिव्य गुणों की वृद्धि सेवक में होती प्रतीत हो और साथ ही साथ भय, लोभ, मोह, छल-कपट, निन्दा, पक्षपात, स्वार्थ, प्रमाद, पाप, आलस्य आदि क्षीण होते दिखाई पड़ें।

'सत्-तत्व' समझने के लिए थोड़ा गम्भीरता पूर्वक विचार करना होगा। यह संसार जो हमें दृष्टिगोचर होता है, इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के असंख्य प्राणी हैं, अनेक वस्तुएँ, अनेक दृष्य, अनेक व्यक्ति हैं। इन सब का हर समय में, हर देश में होना नहीं पाया जाता। संसार-आरम्भ से पूर्व, यह कुछ भी नहीं था। एक समय था, जब ये नहीं थे। फिर ये हुए। भविष्य में ऐसा समय भी आयेगा जब ये नहीं रहेंगे। इसी प्रकार इनका सब देशों में पाया जाना भी सिद्ध नहीं होता। अनेक ऐसी वस्तुएँ एवं प्राणी हैं जो एक स्थान पर हैं परन्तु दूसरे स्थान पर उनका अभाव है। जो एक देश में हो वह दूसरे देश में भी हो, यह जरूरी नहीं। फिर यह जो कुछ भी दिखाई पड़ता है, इसमें निरन्तर परिवर्तन का अनुभव हम दिन-प्रतिदिन सदा करते ही रहते हैं। इन ही कारणों से इस संसार को असत्य कहा जाता है क्योंकि 'सत्' वह ही है जो नित्य विद्यमान हो, जिसका किसी देश-काल-वस्तु में अभाव न हो। यह ही सत-स्वरूप-परमात्मा है, जिसमें देश, काल, वस्तु का अत्यन्त अभाव है और इसीलिए देश-काल-वस्तु निमित्त अभाव की सत्-स्वरूप परमात्मा में, कभी सम्भावना भी नहीं की जा सकती। स्वरूप से तो भाई! वह परमात्मा 'सत' है अर्थात् नित्य विद्यमान है, जो विकार व भेद रहित है, जो अपरिवर्तित है, जिसका कहीं भी किसी देश में अभाव नहीं है,

जो न घटता है. न बढ़ता है, जिसका कभी क्षरण नहीं होता अपितु, जो सदा सर्वथा सर्वत्र एक रस, एक रूप और परिपूर्ण है। वह ही श्रुति में एकम् एवं अद्वितीयम्—इन शब्दों द्वारा परमात्मा को सजातीय, विजातीय और स्वागत भेदों से रहित सिद्ध किया है।

एकम् अर्थात् सजातीय भेद, जैसे सब मनुष्य वास्तव में जाताय रूप से एक ही हैं परन्तु एक होते हुए भी व्यक्ति रूप से अलग-अलग हैं। एक मनुष्य और वृक्ष को लेवें। मनुष्य और वृक्ष सर्वथा एक दूसरे से भिन्न हैं, इसी को 'एव' अर्थात् विजातीय भेद कहते हैं। स्वगत भेद, यानी श्रुति शब्दों में 'अद्वितीयम्' को समझने में यह समझा जा सकता है, जैसे 'यह मेरा हाथ है, यह मेरा सिर है, यह मेरा पाँव है'—इस प्रकार एक शरीर का अंग होते हुए भी इन सब अवयवों में भेद है–ऐसे भेद को ही 'स्वगत भेद' कहते हैं।

'सत्' इन सब से रहित है, इन सब से परे है और ऐसा ही 'सत्' तत्व, परम 'तत्व' है और वह ही 'सत-स्वरूप-ब्रह्म है। गीता के दूसरे अध्याय के १६वें श्लोक में कहा है कि "सत् का अभाव नहीं है और असत् का अस्तित्व नहीं है।"

ज्ञान गंगा

आजकल संसार में विज्ञान की चारों ओर धूम मच रही है। लोग कहते हैं कि विज्ञान बड़ी उन्नति पर है और दिन प्रतिदिन वेग के साथ बढ़ रहा है। परन्तु अवस्था यह है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से, एक समाज दूसरे समाज से, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से भयभीत है और परमाणु अस्त्रों की होड़ में हम मानवता को भी भूल गये हैं। इससे यह स्पष्ट है कि आज के विज्ञान की प्रगति निर्माण की अपेक्षा विनाश की ओर अधिक है क्या कोई भी वैज्ञानिक तथा राजनीतिज्ञ इस कटु सत्य से इन्कार कर सकता है? विश्व के बड़े-बड़े देश और उनके नेता एक ओर लाखों रुपया Disarmament Commitees और Conferences पर व्यय कर रहे हैं और दूसरी ओर चीत्कार करती हुई मानवता की पुकार अवहेलना करते हुए नये-नये Nuclear bombs के परीक्षणों पर करोड़ों की सम्पत्ति मिटा रहे हैं। एक दूसरे को दोषी ठहराता है, केवल अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए। हम रमण करते हैं अशान्ति में और कर्म भी करते हैं उसी प्रकार के, फिर चाहते हैं शान्ति। भाई! क्या ऐसे शान्ति प्राप्त होगी? भय का जन्म सदा अकर्त्तव्य और अविवेक से ही होता है। अब जो करना चाहिए उसे नहीं करते और जो नहीं करना चाहिए उसके करने में तत्पर रहते हैं तथा जो अनुभव एवं ज्ञान प्राप्त करते है उसका आदर नहीं करते हैं, नई-नई युक्तियों को सामने रख कर, केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए, तब इसी से उत्पन्न होता है भय और जिसका परिणाम है संघर्ष तथा विनाश। अतएव आज के प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह अपने कर्तव्य को, कर्तव्य की दृष्टि से, विवेक के प्रकाश में, पालन करें तथा मानवता को बचाने के लिए बड़े से बड़ा बलिदान देने से भी न हिचकिचाएं, अन्यथा इस होड़ में मानवता को

पिसना पड़ेगा । मिटना पड़ेगा ।

कलियुग के कई अर्थ आपने सुन रखे होंगे, आज एक अर्थ और सुन लीजिये और वह है कि "कल" को मशीन भी कहते हैं अर्थात् आज का लोह-युग-मशीन-युग है यानि कलयुग और इसीलिए कल-कल की निनाद में किसी को भी कल (चैन) नहीं पड़ती । बीते हुए कल की स्मृति तथा आने वाले कल की चिन्ता ने मानव की कल (शान्ति) का इस प्रकार अपहरण कर लिया कि वह क्षण मात्र को भी कल नहीं पाता । इसीलिए कलियुग में जो साधन किये जाते हैं उनका फल विशेष है । हमारे ग्रन्थों में इसके प्रमाण हैं कि सतयुग में दस वर्ष निरन्तर तप करने का जो फल था, त्रेतायुग में एक वर्ष की तपस्या से तथा द्वापर युग में एक मास तपस्या से प्राप्त होता था और कलियुग में उतना ही फल चौबीस घंटे की तपस्या से प्राप्त हो सकता है । इसी प्रकार सतयुग में एक करोड़ मुद्रा दान करने का जो पुण्य प्राप्त होता था, उतना ही पुण्य त्रेता में एक लाख मुद्रा दान करने पर तथा द्वापर में एक हजार मुद्रा दान करने से होता था और अब कलियुग में केवल सौ मुद्रा दान करने से उसी पुण्य की प्राप्ति होती है । श्री मद्भागवत-महा-पुराण में यह आता है कि दिग्विजय के समय जब राजा परीक्षित की कलियुग से भेंट हुई तो वह उसे मारना चाहते थे परन्तु यह जानकार कि भक्ति के लिए कलियुग का काल स्वर्ण सुअवसर है, उन्होंने उसे नहीं मारा ।

"सुनु व्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार ।
गुनउं बहुत कलियुग कर बिनु प्रयास निस्तार ।।
कलियुग सम युग आन नहिं जो नर कर विश्वास ।
गाइ राम गुन गन विमल भवतर बिनहिं प्रयास ।।"

अतएव इस युग को बुरा न कह कर जो प्राप्त है उसका सदुपयोग

करें। एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त के वाक्य हैं कि, "साधनयुक्त जीवन में वर्तमान का सबसे सुन्दर उपयोग क्या है? तो, कहना होगा कि यदि कुछ करना चाहते हो, तो सेवा करो, यदि जानना चाहते हो, तो अपने को जानो और यदि मानना चाहते हो, तो प्रभु को मानो। अर्थात् अपने को जानना है, प्रभु को मानना है और सेवा करनी है। कई वर्ष हुए जब उनके ऐसे ही वाक्यों ने इस जीवन में उथल-पुथल मचा दी थी और आशा है यदि आप भी इन पर ध्यान देंगे तो आप का जीवन भी बदल जायेगा।

वास्तव में उपासना का क्षेत्र होता है शुद्ध हृदय। उपासना का स्थल कर्म और ज्ञान के बीच में है अर्थात् जहाँ कर्म की सीमा समाप्त हो जाती है तथा ज्ञान की सीमा प्रारम्भ होती है, वहीं उपासना रहती है। उपासना के लिए रजोगुण और तमोगुण को दूर कर सतोगुण का उदय करना होता है क्योंकि रज एवं तम में मन चंचल तथा गूढ़ रहता है परन्तु सत में शान्त और बाहर से उदासीन। जब मन बाह्य जगत से उदासीन हो शान्त हो जाए तब यही समय उपासना के लिए श्रेष्ठ मानना चाहिए। उपासना के इस क्षेत्र में हमारा पदार्पण हो सके इसके लिए जप, तप आदि अनेक साधन सम्पन्न करने पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि साधन द्वारा मन को शान्त करना है, अन्धकार हटाना है तथा अपने में प्रकाश भरना है। आजकल के समय में दूसरे अनेक साधनों की अपेक्षा जप बहुत शीघ्र और बड़ी सुगमता पूर्वक हृदय से मल और आवरण हटा उसे शुद्ध और निर्मल करता है। परन्तु यह अवश्य स्मरण रखें कि साधन में कर्म की प्रमुखता नहीं है बल्कि भाव का स्थान मुख्य है। अतएव साधन में भावपूर्वक तत्पर होना चाहिए।

प्रभु की अहैतुकी कृपा हम सब पर है परन्तु विश्वास की कमी तथा चित्त की अशुद्धि के कारण हमें इसका भास नहीं होता। जो प्रभु कृपा के

आश्रित रहते हैं उनके लिए सुख-दुःख, मान-अपमान, शुभ-अशुभ, हर्ष-शोक, संयोग-वियोग आदि सभी प्रभु के 'प्रसाद-रूप' बन जाते हैं। जब मानव आसक्ति प्रमाद, मोह आदि के कारण यह सोचता है कि प्रभु उसके ही मन की करें तभी वह कृपापात्र के पद से हट जाता है। विधि के विधान में किसी का अहित तो है ही नहीं परन्तु सीमित अहम् भाव के कारण प्रतिकूल का निरादर करने में हम नहीं चूकते। जो भगवान का भक्त है उसका तो दर्प प्रभु तुरन्त ही दूर करते हैं क्योंकि वह दर्पहारी जो ठहरे। जब श्री नारद जी को अभिमान हो गया उस समय करुणानिधान भगवान ने उनके गर्व को दूर करने के लिए एक विचित्र लीला रची और जिसका भाव स्पष्ट था—

"करुणानिधि मन दीख विचारी।
उर अंकुरेउ गरब तरु भारी।।
बेगि सो मैं डारिहऊं उखारी।
पन हमार सेवक हितकारी।।

अर्थात् सेवक के हित का विशेष विचार करते हुए विश्वमोहिनी का स्वयंवर रचा गया। और इस स्वयंवर में सफलता प्राप्त हो, इसके लिए जब नारद जी ने भगवान से वर मांगा तब भगवान ने नारद जी को सम्बोधित करते हुए यह विश्वास दिलाया कि वह (भगवान) वही करेंगे जिसमें उनका (नारद जी का) परम हित होगा—

"जेहि विधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार।
सोई हम करब न आन कछु वचन न मृषा हमार।।"

कुपथ मांगरुज व्याकुल रोगी। वैद न देई सुनहु मुनि जोगी।।
एहि विधि हित तुम्हार मैं ठयऊ। कहि अस अन्तरहित प्रभु भयऊ।।

इसलिए प्रभु जो भी देते हैं उसमें हमारा सदा ही मंगल है। प्रभु की तो बात छोड़िये, जब कभी भी यदि किसी कारण विशेष से किसी

सन्त महात्मा का शाप प्राप्त हो तो उसे भी आदर सहित हमें स्वीकार करना चाहिए, चाहे उसमें हमारी भूल न भी हो क्योंकि श्रद्धापूर्वक आदर से स्वीकार किया हुआ किसी भी महापुरुष का शाप वरदान बन जाता है। इसीलिए तो गौतम नारी श्री अहल्या जी ने मुनि के शाप को सादर स्वीकार किया। और जब मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम की शरण गई उस समय उन्होंने कहा—

"मुनि शाप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउं भरि लोचन हरि भवमोचन इहइ लाभ संकर जाना।।"

अतएव भक्त होने के नाते जो भी अवस्था, परिस्थिति आदि प्राप्त हों उन्हें प्रभु का प्रसाद समझते हुए प्रेम पूर्वक शिरोधार्य करना चाहिए। यद्यपि देखने में यह साधन बड़ा कठिन प्रतीत होता है, फिर भी समर्पण के अतिरिक्त सम्पूर्ण रूप में प्रभु भक्ति प्राप्त करने का इस युग में कोई अन्य उपाय इतना सुगम नहीं है। मन को पवित्र और संयत करने का एक सुन्दर एवं सरल साधन सत्संग भी है।

"बिनु हरि भजन मिटय न कलेसा।।"

अर्थात् बिना प्रभु भजन के क्लेशों का नाश नहीं होता है। भजन जोकि भक्ति में मुख्य वस्तु है, से दो बातें शीघ्र ही होती हैं—पहली क्लेशों का नाश तथा दूसरी—शुभ की प्राप्ति। इसीलिए भक्ति को 'क्लेशघ्नी' तथा शुभदा कहा गया है। हम साधारणतया जिनको 'शुभ' और क्लेश के नाम से पुकारते हैं, वे वास्तव में 'शुभ' तथा 'क्लेश' नहीं हैं। विवेक, विनय, वैराग्य, प्रेम तथा अमृतत्व—यह शुभ हैं और इनके विपरीत अविद्या, अविवेक, राग, द्वेष, अस्मिता (अपनापन) तथा अभिनिवेश अथर्ति मृत्यु की भयानक भीति, यह है क्लेश। जो भक्त निरन्तर भजन में तत्पर हैं वे इन क्लेशों से छुटकारा पा, पांचों शुभों को प्राप्त होते हैं। भजन के बारे में यह और जान लेवें कि भजन भी दो प्रकार का होता है। एक तो निष्ठापूर्ण और दूसरा निष्ठारहित। इन

दोनों में केवल यह ही भेद है कि निष्ठारहित सतत भजन का फल है निष्ठापूर्ण भजन। देखा देखी जिस भजन का आरम्भ होता है उसमें आगे चलकर उत्साह, श्रद्धा, विश्वास आदि कम हो जाते हैं, साधक के मन में ज्वार भाटा आता रहता है तथा वह संघर्ष एवं उधेड़ बुन में फंसा रहता है। कभी उसका चित्त साधन भजन से ऊबने लगता है और कभी उसे भजन में सुख सा प्रतीत होता है। ऐसे भजन को निष्ठारहित भजन कहते हैं। वह सब होते हुए भी यदि साधक अनुकूलता तथा प्रतिकूलता की चिन्ता न करते हुए किसी प्रकार से भी थोड़ा-बहुत भजन करता रहे तथा सत्संग का सहारा पकड़े रहे तो कुछ समय में यही भजन निष्ठा-पूर्ण भजन में बदल जाता है।

सन्तों के पास रहते हुए भी हमारी उन्नति में रुकावट क्यों आती है? ऐसा प्रश्न है एक भाई का— सुन्दर है और हितकारी भी। भाई! हम अपने को तो सन्त के साथ रखते हैं परन्तु साधारणतया अपने मन, बुद्धि, विचार आदि को सन्त से दूर और प्रतिकूल अर्थात् हम सन्त से आत्मीयता नहीं रख पाते। यदि आप अपने मन को सन्त के अनुकूल कर दें, इतना अनुकूल कि उन सन्त को ऐसा अनुभव होने लगे कि अमुक भक्त का मन तो मेरे मन का ही प्रतिबिम्ब है, फिर देखिए कि आप की सारी रुकावटें कैसे काफूर की भाँति उड़ जाती हैं। आप कहेंगे कि हम तो सन्त की बड़ी सेवा करते हैं, उनका बड़ा आदर और सत्कार करते हैं, बहुत नम्र होकर उनसे वार्ता करते हैं, उनके प्रवचनों को सुनते हैं, उन्हें दण्डवत प्रणाम करते हैं आदि आदि। परन्तु भाई क्या आप अपने संकल्पों को उनके आगे त्यागते हैं। कृपया विचार करें कि क्या कोई पुत्र अपना संकल्प रखकर पिता के प्रति आत्मीयता रख पाया है। अपना संकल्प रखते हुए कोई पति पत्नी के प्रति, कोई पत्नी पति के प्रति, कोई मित्र मित्र के प्रति, कोई शिष्य गुरु के प्रति, कोई सेवक स्वामी के प्रति आत्मीयता नहीं रख सकता, यह निश्चय है। अतः अपना व्यक्ति-

गत संकल्प तोड़ना पड़ेगा। यही बात प्रभु के सम्बन्ध में भी है अर्थात् साधक को अपने व्यक्तिगत संकल्पों को त्याग कर प्रभु में आत्मीयता जोड़नी है।

हम यह भूल करते हैं कि दु:ख के बाह्य रूप को ही वेदना समझ लेते हैं। पहले यह जान लेवें कि दु:ख के दो रूप हैं—एक बाह्य तथा दूसरा आन्तरिक। बाह्य रूप पूर्ण दु:ख नहीं है अपितु है सुख-भोग की लालसा तथा आशा। जब हम पूर्ण रूप से दुखी होंगे तो उस कमी अथवा अभाव को मिटाने के लिए तीव्र अभिलाषा होगी—यह ही दुख का आन्तरिक रूप है जो वेदना को जागृत करता है। ऐसी वेदना जागृत हो जाने पर एक आन्तरिक व्याकुलता एवं गहरी मांग उत्पन्न होती है। इसी को सन्तों ने 'वास्तविक प्रार्थना' कहा है। ऐसी प्रार्थना कभी भी निष्फल नहीं होती। इसी प्रकार की प्रार्थना द्रौपदी ने चीरहरण के समय तथा गजेन्द्र ने ग्राह ग्रस्त होने पर की थी।

"दृगनीर को मन-पात्र में भर, अर्घ्यं हरि को दे दिया,
गजराज ने ऐसे समय में यज्ञ यह मानो किया॥
फिर पद्मिनी से पद्म ले हरि-पद पंद्म में अर्पित किया,
करि ने यथा अपनी व्यथा लिख पत्र हरि को दे दिया॥
उठकर भगे भगवान अपना यान भी भूले अहा?
पर बान निज भूले नहीं-गज मान जन अपना महा॥"

पूज्यपाद श्री गुरुदेव की एक अंग्रेजी कविता में आता है—

"Today becomes yesterday,
yesterday is today's memory,
It is a remembrance only,
Tomorrow is today's dream,
It is a longing only.

Live in the solid present alone,
Wipe off yesterday and forget tomorrow,
In God there is neither past nor future,
God is the symbol of the present,
Present only is the solid reality."

अर्थात्—"आज 'कल' में बदल जाता है,
बीता हुआ कल आज की स्मृति है,
यह एक मात्र स्मृति ही है,
आने वाला कल आज का स्वप्न है,
यह केवल एक लालसा है,
पूर्ण रूपेण केवल वर्तमान में रहो,
अतीत को भुला दो तथा आने वाले कल को भूलो।
परमेश्वर में न भूत है न भविष्य,
परमेश्वर प्रतीक है वर्तमान का,
वर्तमान ही है वास्तविक यथार्थता।"

यदि अपने जीवन पर हम दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि भूत की स्मृति तथा भविष्य की उधेड़-बुन में हमारे दैनिक जीवन का अधिकांश समय व्यतीत हो जाता है और इसीलिए वर्तमान की ओर बहुत कम ध्यान जाता है और कभी-कभी तो हम अपने आपको ऐसा खो देते हैं कि वर्तमान का ध्यान ही नहीं रहता। शाह ज़फर की तरह जीवन की अन्तिम घड़ियों में केवल एक पश्चात्ताप पूर्ण आह निकल जाती है—

"उमरे दराज माँग कर लाये थे चार दिन।
दो आरजू में कट गए दो इन्तजार में॥"

परन्तु जब किसी से यह निवेदन किया जाता है कि वह केवल वर्तमान की ही ओर ध्यान देवें तो उसको आश्चर्य होता है कि क्या यह

सम्भव भी है ? हां भाई सम्भव है। यदि हम अतीत की घटनाओं से शिक्षा ग्रहण करें और उस अनुभव के आधार पर वर्तमान में प्राप्त व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति आदि का सदुपयोग करें तो हमें इतना समय ही नहीं मिलेगा कि भविष्य की उधेड़बुन में व्यर्थ समय लगायें। वास्तविकता यह है कि हम अतीत की घटनाओं को याद रखने के अभ्यस्त हैं और उन घटनाओं से जो शिक्षा लेनी चाहिए उस ओर ध्यान ही नहीं जाता और इसी कारण भविष्य के विषय में कल्पना-जगत का सहारा लेते हैं। वर्तमान में कर्त्तव्य को कर्त्तव्य की दृष्टि से पालन करते हुए हम सुगमता पूर्वक भविष्य के व्यर्थ चिन्तन से छुटकारा पा सकते हैं— यही सफलता और मुक्ति की कुंजी है।

कल एक सज्जन ने पूछा कि, सत्य कैसे प्राप्त हो ? जो अप्राप्त होगा, उसी को प्राप्त करने का प्रश्न होगा भाई ?

सत्य अथवा प्रभु किसी प्रकार भी अप्राप्त नहीं है परन्तु साधारण भाषा में अप्राप्त सा प्रतीत होता है अथवा कहा जाता है। जो सर्वत्र है, अविनाशी है तथा जिससे देश काल की दूरी नहीं है, क्या उसे अप्राप्त कह सकते हैं, तो फिर आप कहेगें कि यदि अप्राप्त नहीं है तो क्या है, इसका उत्तर यह कि हम उस ओर से विमुख हैं अथवा हमने उसे भुला दिया है अर्थात् उसकी विस्मृति है। इसी प्रकार भक्त की अनेक अवस्थाएं होती हैं जो कि साधन रूप हैं परन्तु उसकी वास्तविक अभिलाषा—

"मन तो शुदम नू मन तन शुदम जो जां शुदी।
ता कस न गोयद वाद अजी, मन दीगरम तू दीगरी।।

अर्थात्—

मुझ में समा जा इस तरह तन-प्राण का जो तौर है।
जिसमें न फिर कोई कहे मैं और हूं तू और है।।

वास्तविकता तो यह है कि किसी भी मानव का लक्ष्य कोई परिस्थिति नहीं हो सकती। हमारी सबसे बड़ी भूल यही है कि हम अविद्या अथवा अविवेक, यम एवं अहम के वशीभूत होकर किसी विशेष परि-

स्थिति को ही जीवन का लक्ष्य मान बैठते हैं और इसलिए प्रतिकूल परिस्थिति आने पर हम उसे शीघ्र बदलने के प्रयत्न में लग जाते हैं। ऐसा चिन्तन एवं प्रयास दोनों ही व्यर्थ हैं। हमें तो प्रत्येक प्राप्त परिस्थिति का इस प्रकार सदुपयोग करना चाहिए जिससे कि वह लक्ष्य प्राप्ति का साधन बन जाये। इस स्थल पर हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि वह कदापि भी लक्ष्य नहीं हो सकता जिसका वियोग हो और न ही वह लक्ष्य हो सकता है जिसकी प्राप्ति न हो सके। इस दृष्टि से जीवन के लक्ष्य से किसी भी परिस्थिति में निराश नहीं होना चाहिए अपितु प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग केवल अपने लक्ष्य के ही नाते, अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य अनुसार, ईमानदारी और परिश्रम पूर्वक करना चाहिए। यह स्मरण रखें कि प्रत्येक परिस्थिति जो हमें प्राप्त होती है, विधाता की विधि का कृपायुक्त न्यायरूपी प्रसाद है, अतएव हमें उसका आदर करना है जो उसके सदुपयोग से ही सम्भव होगा।

विद्यार्थियों से

आज का विद्यार्थी अपने कर्त्तव्य को बिल्कुल भूलता ही जा रहा है। यह बड़े खेद का विषय है कि उसका इतनी शीघ्रता के साथ पतन हो रहा है जबकि वह नवनिर्मित राष्ट्र की आशा और विश्वास है। आज उसमें अनुशासन का अभाव है, आचरण की अशुद्धि है, मन को मलीनता है एवं शिष्टाचार की कमी है। यह प्राकृतिक नियम है कि आचरण को शुद्धि मनुष्य को ऊँचा उठाती है तथा उसकी मलीनता ही व्यक्ति को पतन के गर्त में डाल देती है। विद्यार्थी जीवन बड़ा ही मूल्यवान है। यही समय है जबकि विद्यार्थी अपने आगे आने वाले सम्पूर्ण जीवन को सुधार लें या बिगाड़ लें।

प्यारे विद्यार्थियो ! अब भी समय है। सोना छोड़ो, जागो ! अनुशासन में रहना सीखो। कर्त्तव्य का पालन करना सीखो। दुराचरण का त्याग करो, शिष्टाचार तथा सदाचार सीखो। यहां पर दैनिक जीवन को ऊंचा उठाने के कुछ नियम दिए जा रहे हैं—इन्हें नित्य पढ़ो, इन पर विचार करो तथा दैनिक जीवन में अपनाओ, जिससे तुम अच्छे तथा सफल विद्यार्थी बन सको और आगे चलकर राष्ट्र के नव निर्माण में हाथ बंटा सको।

१—शरीर ही सब धर्मों-कर्मों का हेतु है। यदि यह स्वस्थ है तो हम किसी भी कार्य को सुगमता एवं सफलतापूर्वक कर सकते हैं। अतएव इसे सदा स्वस्थ रखो एवं स्वास्थ्य के नियमों में सबसे मुख्य ब्रह्मचर्य का पालन है।

२—विद्यार्थी का मुख्य ध्येय है विद्या-उपार्जन तथा आचरण निर्माण। इस ओर तुम्हें सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए। अपनी पढ़ाई का एक दैनिक कार्यक्रम बनाओ तथा पूरे साल भर दृढ़तापूर्वक कार्यक्रम

अनुसार पढ़ाई पढ़ते रहो।

३—अश्लील पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकाओं का पढ़ना बिल्कुल त्याग दो तथा गन्दे नाटक, सिनेमा आदि का देखना बिल्कुल बन्द कर दो। गन्दे गाने तथा ऐसे गाने जिनसे निराशा झलकती हो, न गाओ। गन्दे गानों के गाने से मन मलीन होगा तथा निराशा भरे गानों से जीवन में निराशावाद का प्रसार होगा। यह स्मरण रखो कि मानव जीवन बड़ा मूल्यवान है परन्तु संघर्ष से पूर्ण अतः। इसे सफल बनाने के लिए तुम में धैर्य, शक्ति, उत्साह तथा आशा का होना आवश्यक है।

४—बुरे विद्यार्थियों तथा बुरे व्यक्तियों का संग कभी भूलकर भी मत करो। यह याद रखो कि कुसंग से सदा मनमलीन होता है, आचरण गिरता है और ऐसी बुरी आदतें पड़ जाती हैं जो कि जीवन भर नहीं छटती हैं। मांस-मदिरा, धूम्रपान, पान चबाना, अधिक खट्टा-मीठा आदि बिल्कुल ही त्याज्य हैं। अच्छों की संगति करो तथा अच्छी आदतें डालो।

प्रश्न और उत्तर

प्रश्न : इस भवसागर से छुटकारा चाहता हूँ। कई बार प्रयत्न किया और अनेक प्रकार के साधन भी परन्तु सफलता नहीं मिली, बल्कि और फँसता ही गया, नई-नई विपत्तियों से उभरने का क्या उपाय है ?

उत्तर : प्रभु का विधान मंगलमय है, और उसकी धारा भी तीव्र गति से बहती है। उसके मंगलमय इच्छा-प्रवाह में अपने को डाल दें अर्थात प्रभु की इच्छा से विपरीत अथवा अपनी कोई इच्छा न रखें—तो संसार सागर में डूबने से बच जायेंगे। सुख-दुःख ये दोनों तो जीवन रूपी सिक्के के दो पहलू हैं। दुख से घबराएँ नहीं और सुख में उसे भूले नहीं, जो मंगलमय भगवान की इच्छा के विपरीत चलता है, उसे तो विपत्तियों का शिकार बनना ही पड़ता है परन्तु प्रभु इच्छा को समझना आसान नहीं है। जब तक अपने "मैं" का नाश न हो :

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति सांकरी, जामें दो न समाहिं।"

प्रश्न : मैं सत्-मार्ग पर और साधन के मार्ग पर चलना चाहता हूं। परन्तु उस मार्ग पर चलने में अपने को असमर्थ पाता हूँ—इस पर चलने का क्या उपाय है ?

उत्तर : साधन-पथ एवं सत् मार्ग पर चलने में यदि आप असमर्थ होते तो आप के अन्दर यह प्रश्न ही न उठता। आप अपने विचारों और भावनाओं का विश्लेषण करें। सरल बनें, कपट की बातों का त्याग करें। अपने जीवन में सीधापन लायें, सन्तोष धारण करें, एवं प्रभु कृपा में विश्वास करें। निष्काम भाव से

कर्म करते हुए प्रभु वन्दना दैनिक रूप से बिना किसी आडम्बर के करें, सफलता अवश्य मिलेगी। इस मार्ग में 'कंचन' और 'कामिनी' की दो बड़ी घाटियों के अतिरिक्त 'नाम-यश-कीर्ति' की भी एक बड़ी घाटी है— इन तीनों से बचकर चलें तो प्रभु दर्शन भी होगा।

प्रश्न : कितने ही मनुष्य ऐसा मानते हैं कि खाओ, पीओ मौज उड़ाओ, इसके सिवा और कुछ भी नहीं। संसारी सुखों और सुविधाओं को एकत्र करना और विषय भोगों को भोगना ही सुखी जीवन है—अन्यथा जीवन व्यर्थ है, आपका इस पर क्या विचार है ?

उत्तर : मैं मानव जीवन की सार्थकता इस में नहीं मानता अपितु कामनाओं के त्याग, सेवामय जीवन, प्रभु चिन्तन, समता, संकल्प रहित अथवा इच्छा-रहित अवस्था में स्थित होना मानव जीवन का लक्ष्य मानता हूँ। वास्तव में विषयों के संग से सुख प्रतीत तो होता है परन्तु वहाँ सुख है नहीं। विचार करने से यह बात स्पष्ट समझ में आती है। यदि वास्तव में वही सुख होता तो सदा विद्यमान रहता—परन्तु वह तो सदा रहता नहीं अर्थात् वह दुःख ही है, उसमें सुख-बुद्धि का भास मात्र है। विचार करके देखें तो मालूम होगा कि त्याग, सन्तोष, समता के बिना किसी को वास्तविक सुख और शान्ति की उपलब्धि नहीं होती है।

प्रश्न : मैं बड़ा दुःखी हूं। इससे छुटकारा कैसे मिले ?

उत्तर : आपका प्रश्न यद्यपि गंभीर है, परन्तु आपने अपनी पूरी बात को छिपाने का प्रयास किया। मेरे विचार से दुःख का मूल ममता है— यद्यपि इनके स्वरूप भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। जिसमें ममता है यदि वह हमारी बात न माने तो उसमें विरोधी भाव भी जागृत हो जाता है। कहीं-कहीं ऐसा भी दिखाई पड़ता है जिसमें अपनी ममता होती है और उसके विरोध में कोई आ

जाये तो उस विरोधी से वैर भाव हो जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसा भी होता है कि जिस वस्तु, जिस व्यक्ति अथवा जिस परिस्थिति में ममता हो जाती है, उस वस्तु या व्यक्ति या परिस्थिति के नाश हो जाने पर या छिन जा ने पर अथवा न रहने पर ममता के कारण जोवन में दुख आता है और मनुष्य कहता है मैं बड़ा दुखी हूँ। इस प्रकार के दुखों से निवृत्ति विवेक के प्रकाश में संसार की वास्तविकता का दर्शन करने से होती है। संसार की वास्तविकता क्या है ? यहाँ पर कुछ भी स्थायी नहीं है—सब कुछ परिवर्तनशील है और नाशवान है और उस पर अपना कोई अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी अपना अधिकार नहीं, इस वास्तविकता का दर्शन सर्वप्रथम अपने शरीर में करें—इससे अपने शरीर में ममता और मोह का निवारण होगा और फिर कर्त्तव्यपरायणता ठीक-ठीक समझ में आने लगेगी। इसके साथ-साथ त्याग और वैराग्य की भावना बढ़ेगी तथा ईश्वर के मंगलमय विधान में विश्वास भी आयेगा और जहाँ 'वह' है वहाँ दुख नहीं। उसकी प्राप्ति के दो मार्ग हैं—एक तो पुरुषार्थ का मार्ग है और दूसरा उसकी कृपा का। पुरुषार्थ के मार्ग में कठिनता और बाधायें अधिक हैं। भगवान की कृपा के पात्र बनें और उसकी कृपा में भरोसा करें। कर्म करने में बड़े सचेत रहें। और जो कुछ उसकी ओर से हो रहा है, उसमें सदा प्रसन्न रहें। उसी से शक्ति की याचना करें और भक्ति की प्रार्थना करें एवं कृतज्ञता पूर्वक मन-वाणी काया से भगवान को सतत् नमस्कार करते रहें। कुछ ही दिनों में प्रकाश आ जायेगा। जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार नहीं रहता और फिर सुख दुख से मानव-साधक ऊपर उठ जाता है।

प्रश्न : मैं तो दूसरों का भला करना चाहता हूँ और प्रायः जिनका मैं भला करता हूँ वही मेरा बुरा करते हैं—क्या जगत का विधान

ऐसा ही है ?

उत्तर : पहले तो आप अपने अन्दर से गर्व को निकाल दें कि आपके द्वारा सदा दूसरों का भला ही होता है। अपितु भगवान के प्रति बड़ी कृतज्ञता प्रकट करें कि उसने आप को किसी की भलाई के निमित्त बना लिया, और जिसकी आपने भलाई की है उसके प्रति आपका विनम्रता का भाव होना चाहिए। और इसका भी त्याग कर दें कि वह आपका अहसानमन्द होवे। इतना होने के उपरान्त फिर की हुई भलाई का आपको अभिमान नहीं होगा। अब रही बात उन लोगों की कि जिनकी आपने भलाई की वे आपकी बुराई करते हैं—यह भी आपका भ्रम है। आप इस विचार को अपने अन्दर से निकाल फेंकें। प्रभु के मंगलमय विधान के अनुसार आपका कोई अनिष्ट नहीं कर सकता, आप के कष्ट एवं विपत्ति का कारण आपके पूर्वकृत कर्म के फल ही हैं— उसका निमित्त जो भी बनेगा उसका और आपका पहले ऐसा ही सम्बन्ध हुआ होगा। यह याद रखें बिना कारण के आपको कोई कष्ट नहीं पहुंचा सकता। प्राकृतिक नियम के अनुसार यह भी सम्भव नहीं है कि 'कार्य' पहले होवे और 'कारण' बाद में बनें, अतः जो भी दुःख प्राप्त होता है वह अपने कर्मों का फल होता है और परमपिता परमेश्वर हमें पापमुक्त करने के लिए न्याय पूर्वक दयावश फल का विधान करते हैं। आध्यात्मिक पथिक अथवा ईश्वर भक्त को तो इस प्रकार विचार करना चाहिए जिसके द्वारा उसे दुख पहुँचा है, वह बेचारा अज्ञान और मोहवश इसमें निमित्त बन गया है, वह तो आपकी दया का पात्र है न कि घृणा का। उस पर क्रोध करना, उसके अनिष्ट की कामना करना अथवा बदले में उसका बुरा चाहना यह भक्ति और बुद्धिमानी की निशानी नहीं है। ईसा-मसीह की तरह उसके लिए प्रभु से क्षमा याचना तथा उसकी

भलाई के लिए प्रभु से प्रार्थना करना यही सर्वोत्तम उपाय है। भलाई का बदला जो बुराई से देता है वह अधम है। बुराई का वदला जो बुराई से देता है वह निकृष्ट है। भलाई का वदला जो भलाई से देता है वह मध्यम श्रेणी का व्यक्ति है। और जो बुराई का बदला भलाई से देता है वह उत्तम है—ऐसा ही साधक ईश्वर दर्शन अथवा आत्म साक्षात्कार का अधिकारी होता है।

प्रश्न : भगवान के भजन में बाधाएँ क्या हैं ?

उत्तर : सबसे बड़ी बाधा साधक की वह 'मैं' है, जिसे वह सुराक्षत रखना चाहता है और सुरक्षित 'मैं' के द्वारा वह संसार के राग-द्वेष आदि के जंजाल में फँसे रहने की कामना रखता है। निष्काम भाव से प्रत्येक प्राप्त वस्तु व्यक्ति और परिस्थिति का कर्त्तव्य-बुद्धि से सदुपयोग करना यह मुक्ति और भक्ति दोनों का साधन है। साधक का लक्ष्य भगवत कृपा में सजीव विश्वास रखत हुए चित्तशुद्धि में होना चाहिए। राग-रहित होने पर ही द्वेष गिरते हैं और प्रभु-प्रेम की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। हृदय में तीव्र व्याकुलता होना यह समस्त बाधाओं को दूर कर देता है। कृत्रिम उपायों में मैं कम विश्वास रखता हूँ। हृदय को अनुरागी बनाओ फिर भजन अपने आप होते हैं।

प्रश्न : संसार की दशा आजकल बहुत बुरी है। समाज में अनेक बुराइयाँ आ गई हैं। सरकार भी ठीक कार्य नहीं करती। इसमें सुधार कैसे लाया जाय ?

उत्तर : समस्त विश्व प्रभु के मंगलमय विधान के आधीन चल रहा ह। उसमें जो प्रतिकूलता एवं अनुकुलता का हमें दर्शन होता है, उसका कारण है कि हम जगत की वास्तविकता का दर्शन नहीं करना चाहते और न हो उसका तत्व-चिन्तन करना चाहते हैं, अपितु अपने सीमित अहम्-भाव के आधीन संकुचित विचार के आधार पर अपने मन की बात करना या कराना चाहते हैं। गह-

राई से सोचने पर आपको स्वतः पता चल जायेगा कि संसार किसी का नहीं होता। अब रही बात कि जिस समाज में हम रहते हैं उस समाज की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ जो हमें दिखाई देती हैं, उसका भी कारण हम स्वयं हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उस समाज की इकाई है। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ, वायु-यान, मोटरें और गाड़ियाँ, सोना और चाँदी, हथियार और औजार इनकी समाज में गिनती नहीं है। जो व्यक्ति जिस समाज में रहते हैं उनके सुन्दर आचरण से सुन्दर समाज का निर्माण होता है। समस्या यह है कि हम सुन्दर समाज के निर्माण की तो बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, परन्तु अपने आपको सुन्दर नहीं बनाना चाहते। व्यक्ति सद्आचरण से सुन्दर बनता है। यदि हम सदाचारी बनें तो सुन्दर समाज का अपने आप निर्माण हो जायेगा। सरकार में कौन लोग हैं, हमीं आप तो हैं। यदि हम और आप वास्तव में सदाचारी बने तो सरकार स्वयं अच्छी बन जायेगी। एक-दूसरे की गलतियां निकालने और सरकारें मात्र बदलने से काम नहीं चलता है। रोग का वास्तव में नाश तभी होता है, जबकि रोग के कारण का निवारण किया जाये। धर्म-परायण मनुष्य का सदाचारी होना परम आवश्यक है चाहे वह किसी भी धर्म का व्यक्ति क्यों न हो। फिर ऐसे धर्म-परायण व्यक्तियों के द्वारा जिस समाज और सरकार का निर्माण होता है वह केवल अपने देश के ही लिए नहीं अपितु समस्त विश्व के लिए कल्याण कारी होती है। यह भूल है कि किसी दूसरे की हानि में अपना-लाभ दिखाई दे, किसी दूसरे राज्य की अवनति में अपनी उन्नति दिखाई दे और समस्त विश्व एक है और विश्व के किसी भीअंग की अवहेलना अथवा हानि अपेक्षित नहीं है। अतः हमारे शास्त्रों में जो आदर्श दिया गया है उसमें सबके सुख की कामनाकी गई है।

"लोकाः समस्ताः सुखिनोः भवन्तु"

प्रश्न : संसार का सबसे बड़ा धोखा क्या है ?

उत्तर : जो मैं नहीं हूँ उसको मैं मानना और जो पराया है उसको अपना मानना—'स्व' और 'पर'। यह शरीर मैं नहीं है और यह शरीर मेरा नहीं है, इसका वास्तविक ज्ञान होना ही इस धोखे से छूटने का एक मात्र उपाय है। आप जो कुर्ता पहने हुए हैं और जो घड़ी लगाये हुए हैं, इसे आप कहते हैं—यह मेरा कुर्ता है, यह मेरी घड़ी है ? अर्थात् आप कुर्ता नहीं हैं और न ही आप घड़ी हैं। इसी प्रकार आप कहते हैं, "मेरा हाथ, मेरा पैर, मेरा पेट, मेरा सिर, मेरा शरीर आदि।" इसका अर्थ हुआ कि हाथ, पैर, पेट, सिर, शरीर आदि आप नहीं हैं। अर्थात 'स्व' इन सबसे अलग अथवा भिन्न है। अतएव शरीर की गणना आप ही 'पर' में आ जाती है। यह बात दूसरी है कि आप इनको भी संज्ञा दे दें। रूप बदलने से स्वरूप नहीं बदलता क्योंकि तत्व तो एक ही है। यह बात स्पष्ट समझ में आते हुए भी हम उसे मान नहीं पाते। हमारा सारा व्यवहार इस प्रकार का होता है कि जैसे मैं शरीर हूँ। इस वास्तविकता का दर्शन करने के लिए बड़े साधन की आवश्यकता है। अब दूसरी विचित्र बात इसमें यह है कि जिस शरीर को आप अपना कहते हैं वह भी आपका अपना नहीं है क्योंकि जो वस्तु अपनी होती है, उस पर अपना अधिकार होता है, जैसे—एक आपका कुर्ता और आपकी घड़ी—इन पर आप का पूरा अधिकार है। आप चाहें इन्हें बेच दें, इनको किसी को दान में दे दें, इनको फेंक दें, इनका नाश कर दें अर्थात् आप जिस प्रकार से चाहें इनका उपयोग कर सकते हैं, जब तक ये आपके पास हों। आप विचार करें कि क्या आपका अपने शरीर पर पूरा अधिकार है ? आप चाहते हैं कि आप बूढ़ें न हों, आप चाहते हैं कि आपके सिर में दर्द न हो आदि परन्तु क्या ऐसा होता है ? बुढ़ापा आता ही है न चाहने पर भी। मन भागता ही है

रोकने पर भी। शरीर की मृत्यु होती ही है यद्यपि वड़े से बड़ा व्यक्ति उसे रोकना चाहे तो भी रोक नहीं सकता। अतः शरीर भी आपका नहीं है। कैसी अजीब बात है कि आप केवल अपने को ही नहीं बल्कि दूसरों के शरीरों और उनकी वस्तुओं को अपना कह कर पुकारते हैं और अपना कह कर मानते भी हैं, इससे बड़ा और क्या धोखा होगा ?

प्रश्न : भगवान कैसे मिले ?

उत्तर : भगवान केवल चाहने मात्र से मिल जाते हैं केवल व्याकुलता और चाह चाहिए। भगवान श्रम-साध्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि भक्त को प्रभु किसी साधन के द्वारा नहीं मिलते। उनका मिलन कृपा साध्य है। जो प्रभु साधन से मिले वो सीमित होते हैं ओर हो सकता है कि वे केवल भक्त की सीमित भावनाओं के आधीन कुछ क्षण-मात्र के लिए प्रकट हो जाए। इसे हम मैंटल कन्सेप्शन भी कह सकते हैं। सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, घट-घटवासी, गुणातीत, सच्चिदानन्दस्वरूप—ऐसा भगवान के विषय में बताया जाता है। जब इनकी अनुभूति हुई ऐसा मानना चाहिए।

प्रश्न : जब भगवान साधना से नहीं मिलता तब साधना करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : वास्तव में साधना का सम्बन्ध अपनी शुद्धि के लिए होता है। साधना का केन्द्र-विन्दु चित्त-शुद्धि होना चाहिए और लक्ष्य प्रभु प्राप्ति, ऐसा करने से प्रभु की महिमा एवं प्रभु की कृपा का दर्शन स्वतः होगा फिर भक्त की मान्यतानुसार प्रभु की प्राप्ति भी होगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रभु है नहीं अथवा अपने से दूर है। प्रभु अपने में है और सर्वत्र भी, इसीलिए प्रभु प्राप्ति श्रम साध्य नहीं है। प्रभु से अपने को जो दूरी दिखाई देती है उसका कारण अपनी इच्छायें और कामनाएँ तथा चित्त की

अशुद्धि है। व्याकुलता आने पर और चाह रहित होते ही प्रभु स्वयं सन्मुख हो जायेगा। हम तो प्रभु से विमुख हैं और इसी लिए जगत के पीछे दौड़ते हैं। प्रभु के सन्मुख होते ही जगत आपके पीछे दौड़ेगा। हमारी पीठ सूर्य की ओर है, इसीलिए जगत रूपी छाया दिखाई देती है और हम उस छाया रूपी जगत को पकड़ने के प्रयास में उसके पीछे दौड़ते हैं। जिस तेजी से हम दौड़ते हैं उसी तीव्रता से वह भागता है। यदि हमारा मुख सूर्य की ओर हो जाये तो छाया पीछे पड़ जायेगी और जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे छाया वैसे वैसे बढ़ती रहेगी, तो प्रभु की ओर मुख करना है। दूसरी बात यह भी समझनी है कि प्रभु की विस्मृति मात्र है, उसकी स्मृति जागृत होने पर चित्त-शुद्धि के उपाय अपने आप सामने आने लगते हैं। केवल इतनी बात है, प्रभु तो किसी को दबाता नहीं कि लोग उसे मानें। केवल इतनी ही स्वतन्त्रता का हमसे दुरुपयोग हो जाता है और जो है वह दिखाई नहीं पड़ता तथा उसमें आस्था नहीं होती क्या 'है' और 'क्या 'नहीं है' इसका उत्तर पहले दे चुका हूँ। साधन करना है जिससे 'है' में आस्था हो जाये और जो नहीं है उसकी वास्तविकता का दर्शन हो जाये।

प्रश्न : धर्म के नाम पर बहुत बड़ा झगड़ा होता है— इसका क्या कारण है?

उत्तर : धर्म के नाम पर जितने भी लड़ाई झगड़े होते हैं वहाँ वास्तव में धर्म नहीं होता—वहां अधर्म ही होता है। अपनी सीमित बुद्धि और संकुचित भावनाओं और स्वार्थ के कारण इस प्रकार के लड़ाई झगड़े धर्म के नाम पर किये जाते हैं अथवा कराए जाते हैं। कहते हैं कि धर्म और राजनीति अलग-अलग हैं। यह पृथकता की भावना वास्तव में एक स्वार्थ की भावना है। धर्मनिर्पेक्षता का अर्थ धर्म से दूर होना नहीं है, अपितु अपने

धर्म में आस्था और सभी धर्मों में समानता एवं सदभावना रखना है। कट्टर धार्मिक भावना Fanaticism का अर्थ वास्तव में धर्मपरायणता नहीं है अपितु एक अजीब प्रकार का अन्ध विश्वास है एवं भ्रम है। वह कोई भी धर्म क्यों न हो। कुछ इने-गिने-चुने व्यक्ति विशेष इस प्रकार के झगड़े करके केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने की बात सोचते हैं। इसमें जो लोग ये कहते हैं कि धर्म का राजनीति से सम्बन्ध नहीं है वे ही धर्म में राजनीति को लाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। उनके मन में न तो समाज का हित होता है न संसार का। आमतौर से ऐसे साम्प्रदायिक झगड़े में गरीब और शरीफ मारे जाते हैं—ऐसा ही अभी तक देखने में आया है। वास्तव में सबसे बड़ा धर्म मानव धर्म है और मानवता की अवहेलना करके किसी भी धर्म को आगे बढ़ाने का प्रयास अनुचित है। उससे संसार में मानवता नहीं आएगी अपितु अधिक अमानव पैदा हो जाएंगे—जो भगवान के नाम पर भोग चाहेंगे। प्रत्येक मानव धर्म की पृष्ठभूमि सेवा, प्रेम, त्याग और अपना कल्याण है। अपना कल्याण चाहने वाले को न तो धर्म की अवहेलना करनी चाहिए और न ही धर्म का दुरुपयोग। धर्मपरायण होने से मानव का जीवन, उसकी भावना और कार्य—इनमें शुद्धता और पवित्रता आएगी। वास्तव में इस प्रकार से मानव प्रगति के रास्ते पर चलेगा। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रत्येक सिक्के और नोट पर स्पष्ट आंका होता है "In God We Trust" परन्तु उनके दैनिक एवं व्यावहारिक जीवन में इसकी बड़ी कमी है। हमारे देश के संविधान में "सत्यमेव जयते" को आदर्श मानकर चलने को कहा गया है—अर्थात राष्ट्र का यह आदर्श है। परन्तु हम और हमारी सरकार अपने व्यावहारिक जीवन में इसको नहीं मानते।

प्रश्न : क्या भारत देश के लिए लोकतन्त्र उचित और लाभकारी है ?

उत्तर : मैं राजनीतिज्ञ नहीं हूँ और आपके प्रश्न की भावना का संबंध राजनीति से मालूम पड़ता है। मेरे अनुसार संसार में जो भी सिद्धान्त बनाए जाते हैं वे किसी समस्या का समाधान करने के लिए बनाए जाते हैं। यदि किसी भी सिद्धान्त की भावना को सुरक्षित रखते हुए उस पर दृढ़ता एवं सुचारू रूप से चलने का प्रयत्न किया जाए तो साधारणतया उसमें सफलता मिलती ही है, यदि उस सिद्धांत में व्यापकता एवं सत्यता है। लोकतंत्र के सिद्धान्त की जो आधारशिला है वह "Of the people. for the people, by the people है। यह हुआ Precept और जो बात आजकल व्यवहार में देखी जाती है वह बड़ी ही विचित्र है—अर्थात् जहां सिद्धान्त में 'Of' है वहां व्यवहार में 'Off' है जहां सिद्धान्त में 'For' है वहां सिद्धान्त में 'Far' है और जहां सिद्धान्त में 'By' है वहां सिद्धांत में 'Buy' है। इसका अर्थ हुआ :

सिद्धान्त—Of the people. for the people, by the people.

व्यवहार—Off the people, far the people; buy the people.

गंभीरतापूर्वक विचार करके देखें कि सिद्धान्त में खराबी नहीं है अपितु उसको व्यवहार में न लाकर उससे विपरीत चलने में है। अब रही हमारी बात – हम सैकड़ों वर्षों से गुलाम चले आ रहे हैं और उस परतंत्रता में हमारा धर्म, हमारी संस्कृति हमारा आचार-विचार हमारा रहन-सहन सभी कुछ बदल गया है। हम वास्तव में अभी स्वतंत्रता के अधिकारी नहीं थे। कुछ त्यागी और तपस्वी महापुरुषों और देशभक्तों के बलिदान के फलस्वरूप यह स्वतन्त्रता हमको मिल गई। इस प्रकार से सत्ता हाथ में आने से पागल हो गए और बौखला गए तथा अनेक व्यक्ति तो पथभ्रष्ट हो गए। अब हमें पुनः कुर्बानी देनी पड़ेगी तभी इस देश का सुधार होगा, हम सुखी होंगे और अपने गंतव्य

की ओर बढ़ सकेंगे जिससे कि सही अर्थों में लोकतन्त्र की स्थापना हो सके और इस प्रकार जब लोकतन्त्र भारत में लाया जाएगा तभी वह रामराज्य की भांति फलीभूत हो सकेगा। किसी प्रकार की भी शासन प्रणाली लाई जाए, सिद्धान्त और व्यवहार में जब तक भेद रहेगा उसकी भी यही दशा होगी। मेरे विचार से भारत के लिए प्रजातन्त्र की प्रणाली अन्य शासन प्रणालियों से अधिक उचित और लाभकारी है।

प्रश्न : मैं बड़ा प्रयास करता हूं अपने मन बुद्धि-अहंकार को समझने का और दार्शनिक विवेचन भी करता हूं इस शरीर का, इस संसार का, इनकी निन्दा और आलोचना भी करता हूं, महापुरुषों की वाणी और शास्त्रों के आधार पर, परन्तु न तो शरीर की आसक्ति ही जाती है और न जगत से ही वैराग्य होता है। इनसे छुटकारा पाने का क्या ढंग हो सकता है ?

उत्तर : पूज्यपाद श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज 'Serve. Love, Give, Purify Meditate, Realize'. पर बड़ा बल देते थे और साथ ही साथ कहा करते थे Be Good, Do Good अर्थात् उनके उपदेशों का निचोड़ है—

"सेवा, प्रेम, त्याग, शुद्धि, ध्यान, आत्मसाक्षात्कार।
भले बनो, भला करो।

परम श्रद्धेय ब्रह्मलीन श्री स्वामी शरणानन्द जी महाराज—जिनसे मेरा बहुत पुराना परिचय था और जिनके उपदेशों एवं सिद्धान्तों का मेरे ऊपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा—वे भी सेवा, प्रेम और त्याग पर बड़ा बल देते थे। मेरे विचार से निकटवर्ती समाज जिनसे हमने किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध मान रखा हो, की सेवा करना परम आवश्यक है। उन सभी के प्रति अपना कुछ कर्त्तव्य होता है और बिना कर्त्तव्य-पालन के मनुष्य के लिए जगत से ऊपर उठना सम्भव नहीं है। कर्त्तव्य पालन

और दूसरों की सेवा करना तभी सार्थक होता है जबकि किसी प्रकारके बदले की भावना न रखी जाये। अपने परिवारसम्बन्धी, निकटवर्ती समाज आदि के प्रति जो कर्त्तव्य है, उसका पालन करने के उपरान्त उनसे किसी प्रकार की भी आशा करना अपने को जगत और शरीर की दासता में फंसाना है। बदले की भावना न करने पर संसार का प्रभाव सेवक एवं साधकके ऊपर से अपने आप उतर जायेगा। साधक होने का अर्थ कभी भी यह नहीं होना चाहिए कि अकर्मण्य हो जाएं या आलसी हो जाएं या जो जिम्मेदारी है उससे जी चुराएं। साधक होने का प्रथम अर्थ है सेवक होना और सेवक का अर्थ है कि सेवा करके राग से निवृत्त होना और जब तक राग की निवृत्ति नहीं होती तब तक किसी न किसी रूप में आसक्ति हमारे अंदर छिपी रहती है। जहां आसक्ति है वहां बन्धन है, केवल नाम-जप, पूजा-पाठ अथवा सिर्फ आसन-प्राणायाम आदि से शरीर की आसक्ति नहीं मिट सकती, सेवा करने से चित्त शुद्धिमें काफी सहायता मिलती है। सबसे प्रेम करना अर्थात् अच्छे-बुरे, अपने-पराए, नीच-ऊंच, अमीर-गरीब सभी को प्रेम करना है निष्कपट भाव से। ममता, कामना, प्यार, वासना आदिको प्रेम नहीं समझना चाहिए। प्रेम में भी स्वार्थ भावना का त्याग करना पड़ता है, जिसके द्वारा चित्त शुद्धि में सहायता मिलती है और प्रभु के चरणों में अनु- राग बढ़ता है। देने का अर्थ है एक प्रकार से त्याग। जो कुछ भी अपने पास है, वह अपना नहीं है, अपितु दूसरों की सेवा के लिए मिला हुआ है। ऐसी भावना रखकर प्रेमपूर्वक दान देने की प्रथा हमारी संस्कृति में ऊंचा स्थान रखती है। आवश्यकता से अधिक कुछ भी अपने पास रखना अनुचित है। इसे हम एक प्रकारसे अपरिग्रह भी कह सकते हैं। दान देने में भी कुछ लेने की भावना नहीं होनी चाहिए। दान देने से एक प्रकार का अभिमान

जाग्रत होता है जो चित्त को शुद्ध नहीं रहने देता। अतः दान का साधन छिपाकर करना चाहिए। यह तीन बातें करने की हैं और ध्यान में रखने की हैं तब पावनता आती है। साधक को सेवा, प्रेम, त्याग और चित्तशुद्धि तक ईमानदारी से प्रयास करना चाहिए और शेष परमपिता परमेश्वर की कृपा पर छोड़ देना चाहिए। वैसे आगे जो कुछ भी ऊपर उठने की बात है वह स्वतः होती है। अतएव सेवा प्रेम और त्याग के द्वारा ही इस जगत के ऋण से मानव छुटकारा पा सकता है।

प्रश्न : आपको सदा हँसते ही देखा-कभी क्रोध, में नहीं देखा, क्या आपको क्रोध आता है ?।

उत्तर : मुझे भी क्रोध आता है परन्तु अब उस पर स्वतः संयम होने लगा है। वैसे मैं आमतौर पर कभी-कभी झूठे क्रोध का नाटक करता हूँ—ऐसे समय मेरे अन्दर क्रोध का प्रवेश नहीं होता। जब मुझ में क्रोध प्रवेश कर जाता है तो उसके पश्चात मैं अपने को कोई न कोई दंड देता हूँ। आवेश किसी प्रकार का भी क्यों न हो हानिकारक होता है। इस पर समझदारी के साथ कठोर संयम की आवश्यकता हैं। वैसे क्रोध नासमझी की निशानी हैं, जिसमें अपने अधिकार की गन्ध आती है।

प्रश्न : जब बच्चे गलती करते हैं तो उन पर क्रोध करना और उन्हें डाँट-डपट और मार-पीट कर उनका सुधार करना क्या अनुचित है ?

उत्तर : मेरे विचार से क्रोध से किसी का सुधार नहीं होता। अपितु अपनी और दूसरों की हानि होती है। क्रोध से तनाव, लड़ाई-झगड़ा आदि अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, जिनका अपने शरीर, मन आदि पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। बच्चों को सुधारने के लिए उन्हें मारना-पीटना नहीं चाहिए। बच्चों पर जहां तक संभव हो क्रोध न करके समझदारी से किसी प्रकार के गलत काम से उनका ध्यान हटाने (अटेन्शन डाईवर्ट करने)

का प्रयास करना चाहिए। कभी-कभी क्रोध का प्रदर्शन आप कर सकते हैं परन्तु आप क्रोध के बहाव में न वहें। इसके लिए बड़े संयम और विवेकयुक्त साधन की आवश्यकता है। वच्चों का सुधार लाड़ दुलार से नहीं होता अपितु प्यार से होता है—ऐसा प्यार जिसमें अधिकार की गन्ध न हो। क्रोध एक प्रकार के मोह और द्वेष की निशानी भी है। दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग करने से,क्रोध पर विजय पाई जा सकतो है।

प्रश्न : श्री राम चरित मानस में "सत् हरि भजन जगत् सब सपना" ऐसा कहा गया है। इसका क्या अर्थ है?

उत्तर : इस परिवर्तनशील जगत को एक दीर्घ सपना समझना चाहिए। विवेक की दृष्टि से जव हम जगत को देखेंगे तो इसका दर्शन भी इसी प्रकार का होगा। स्वप्न कब दिखाई देता है? जब हम गहरी नींद में सो रहे हों, जग जाने पर तो स्वप्न नहीं दिखाई देते अर्थात अर्ध-निद्रा की अवस्था में ही स्वप्न अपना स्थान रखता है। जहाँ तक भजन का सम्बन्ध है उसकी अभिव्यक्ति होती है सत्संग के द्वारा। विवेक—अपने निज प्राप्त विवेक के अनुसार अपने कर्तव्य का सही ढंग से निश्यचात्मक बुद्धि से पालन करते हुए परम पिता परमेश्वर से अपना आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर लेने पर—सब कुछ करते हुए भी हर समय जो भगवत् स्मृति जागृत रहती है—उसी को हर भजन समझना चाहिए। जगत के कार्यों में फँसे रहने पर भी ऐसी चेतना को बनाये रखना ही हरि-भजन का उपाय है और जिसका साधन नित्य प्रति नियम-पूर्वक प्रातः सायंकाल कुछ समय के लिए निश्चिन्त हो सत्य का संग करने पर ही सम्भव है और साथ ही साथ अपने जाने हुए असत्य के संग का त्याग करने से हमने 'करने-कराने' की जीवन-बुद्धि को स्वीकार कर लिया है अतः इसके आगे भी कुछ है अथवा इसके बिना भी 'हम रह सकते हैं,

यह बात समझ में नहीं आती। 'करने-कराने' के अभिमान से अपने को मुक्त करना ही होगा। यह तब सम्भव होगा जब हम सत्संग को अपने जीवन में एक अत्यन्त आवश्यक एवं प्रमुख स्थान देंगे। इसी को दूसरे ढंग से निष्काम-भाव से कर्म करना कहा गया है और सबको फल-सहित प्रभु को अर्पण करना बताया गया है। इसका अर्थ है कि कर्म कार्य में बदल जाता है और 'करना' 'होने' में और होना 'है' में बदल जाता है। फिर प्रभु चिन्तन स्वतः सर्वदा बना रहता है। इस प्रकार से हरि-भजन अपने आप होने लगता है।

प्रश्न : अनेक लोगों का कहना है कि मूर्ति-पूजादि नहीं करनी चाहिए। आपका क्या विचार है?

उत्तर : पहले पूजा के अर्थ को समझना आवश्यक है—पूजा क्यों करते हैं—एक साधन रूप में करनी है। साधन जो भी मानव अपने जीवन में लायेगा उसे पंच तत्वों का प्रारम्भ में सहारा लेना ही होगा क्योंकि साधन इस शरीर के द्वारा करना है और इसका निर्माण पंच तत्वों द्वारा होता है। लोग आँखें, कान, नाक आदि बन्द करके 'शब्द' सुनने का साधन करते हैं। 'शब्द' आकाश का गुण है। कुछ साधक प्राणायामादि का सहारा लेते हैं—अर्थात-वायु-तत्व का सहारा लेते हैं। कुछ लोग हवन-यज्ञादि का सहारा लेते हैं अर्थात अग्नि तत्त्व का सहारा लेते हैं। कुछ लोग सूर्य आदि को जलादि से अर्घ्य देते हैं—इसमें जल तत्त्व और अग्नि-तत्त्व दोनों का समावेश है। कुछ लोग अनेक प्रकार की जल-क्रियायें करते हैं यानि उनके साधन में जल तत्व की प्रमुखता होती है। कुछ साधक प्रतिमादि का सहारा लेते हैं अर्थात पृथ्वी-तत्व उसमें अधिक होता है। आरम्भ में तो भगवत्-चिन्तन और भगवान् की साक्षात सेवा सम्भव नहीं होती है, अतएव उनकी प्रतिमा की पूजा के द्वारा साधक अपने साधन में लगता है। वास्तव में मूर्तिपूजा नहीं की

जाती अपितु भगवान के विग्रह की पूजा होती है—ऐसी प्रतिमा जिसमें अष्टविधिअनुसार उसके आठो अंगों में प्राण-प्रतिष्ठा की गई हो। तव वह मूर्ति अथवा प्रतिमा केवल पत्थर या किसी धातु आदि की निर्जीव प्रतिमा नहीं रहती बल्कि वह एक सजीव विग्रह का रूप धारण कर लेती है। ऐसे विग्रह को साक्षात परमेश्वर समझकर विधि अनुसार पूजन-अर्चनादि करने से भक्त सिद्धि को प्राप्त करते हैं। ऐसे विग्रह का ध्यान और चिन्तन साधक को अनेक कष्टों से दूर करता है और उसे भगवान के समीप पहुँचा देता है। यदि विग्रह की भावना सचेत नहीं होती तो इसका अर्थ है कि हमारी बुद्धि पर पत्थर ही पड़ा हुआ है और हमारा हृदय भी पत्थर की भाँति कठोर है। प्रभु तो सर्वत्र है और अत्यन्त समीप भी, फिर भी उसका भास और दर्शन नहीं होता – यह कैसे हो ? अतएव विग्रह-पूजन भी उसका साधन है इसीलिए मन्दिरों में विग्रह को जगाया जाता है, सुलाया जाता है, नहलाया जाता है, खिलाया जाता है, उसका श्रृंगार किया जाता है, उसकी पूजा व आरती की जाती है, जिससे हमारे अन्दर यह भावना जागृत हो कि यह सजीव विग्रह है। विग्रह अनेक प्रकार से कार्य करता है और चलता-फिरता भी है।

परमहंस श्री राम कृष्ण जी की जीवनी में एक अध्याय है जिसका शीर्षक है 'रामलीला' कृपया उसे ध्यान-पूर्वक और प्रेम-पूर्वक पढ़ें, तो इस सम्बन्ध में आपकी अनेक शंकाओं का समाधान स्वतः हो जायेगा। कलियुग में तो विग्रह-पूजन शीघ्र फलदायी होता है, बस मन में भाव होना चाहिए।

प्रश्न : आपने एक दिन कहा था कि "साधन भजन चोरी से करना चाहिए", इसका क्या अर्थ है ? यदि चोरी से साधन किया तो उसमें प्रगति कैसे होगी ?

उत्तर : जब तक साधक में दोष का सर्वथा नाश न हो जाए तव तक

साधन-भजन को अत्यन्त गुप्त रूप से करना चाहिए। एक बार कहीं पढ़ा था या किसी महापुरुष से सुना था कि "भजन इतना गुप्त रहे जितना सम्भ्रान्त कुल की स्त्री का किसी और से प्रेम"। दोष और दुराचार जीवन में रहते हुए जब साधक अपने साधन का प्रचार करता है तो उससे न तो साधक को लाभ होता है और न ही जगत को परन्तु साधक का अपना अहम् पुष्ट होता है। साधन में सबसे बड़ी वाधा साधक का अपना अहम् है। भक्ति साधक ने की ही नहीं और लोगों में यह ख्याति हो जाए की वह भक्त है—तो यह साधक के लिए वहुत वड़ी समस्या हो जाएगी। यदि साधक के हृदय में भक्ति हो और लोग नहीं जानते हों कि वह भक्त है तो बड़ा ही सुन्दर रहेगा। जो लोग भजन करते हैं उन्हें दो बातों से सदा बड़ा सावधान और सचेत रहना चाहिए।

(क) मेरे दोष घट रहे हैं या नहीं।

(ख) कही ख्याति तो नहीं बढ़ रही है ?

इस प्रकार से साधन करने से साधक को वास्तव में लाभ होता है। मान, बड़ाई आदि का भोजन पाकर, विषयों के अंकुर जो मन में छिपे हैं, जग पड़ते हैं, और साधक अपनी स्थिति से नीचे गिर जाता है। यदि मान-बड़ाई स्वयं भी आए तो भी साधक को बहुत सरल ढंग से विनम्र होकर उससे अपने को बचाते रहना चाहिए—यह एक ऐसा मोठा विष हैं, जिस से बड़े-बड़े साधक भी नहीं वच पाते। इसीलिए इस पर बल दिया गया है कि साधक को अपना साधन भजन छिपा कर करना चाहिए छिपाकर इसलिए उसे रखना भी चाहिए क्योंकि ख्याति बढ़ने पर तोसाधारणतया दोषों का द्वार खुल जाता है और भगवत्-भक्ति का द्वार वन्द हो जाता है।

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।
मान वड़ाई ईर्ष्या दुर्लभ तजना येह।।

अन्तःकरण की शुद्धि के अनन्तर ही सच्ची भक्ति अथवा सच्चे ज्ञान का उदय होता है और अपने साधन को एक प्रकार से अपूर्ण मानना ही आगे बढ़ना है। इस प्रकार से अपने को अपूर्ण मानते हुए ही साधनपथ पर चोरी-चोरी बढ़ते ही रहो, इस दृढ़ निश्चय के साथ कि प्राण भले ही छूट जाए लेकिन साधन नहीं छूटेगा। फिर साधक को स्वतः गुरु-कृपा और प्रभु अनुकम्पा का दर्शन होगा।

प्रश्न : कोई-कोई आपकी बड़ी बुराई करते हैं और निन्दा करते हैं और आप पर अनेक प्रकार के आरोप लगाते हैं। आप की उनके प्रति क्या भावना है ? आप इन्हें बुलाकर समझाते क्यों नहीं ?

उत्तर : यह समस्त सृष्टि गुण-दोषमय है। मुझमें यदि किसी को अवगुण दिखाई देते हैं और वह उनकी इधर-उधर चर्चा करते हैं तो इससे मेरा भला होता है। साधारणतया मुझे वह बुरा नहीं लगता परन्तु अक्सर मन में एक भाव आता है कि जिसको मुझमें कोई दोष दिखाई दे और वे सज्जन मुझे ही उसके विषय में बता दें तो मैं उनका बड़ा ही कृतज्ञ रहूँगा क्योंकि मुझे अपने आप को देखने में बड़ी सहायता मिलेगी। और यदि वैसा नहीं हैं जैसा वे सज्जन मेरे विषय में सोचते हैं तो उन्हें वास्तविकता बताने का मुझे सुअवसर मिलेगा। किसी के द्वारा अपनी जो आलोचना होती है और किसी तीसरे व्यक्ति द्वारा जब वह बात मुझ तक पहुँचती है तब तक उस में कई बातों का मिश्रण हो जाता है अर्थात् आलोचक ने किस दृष्टि से और किस ढंग से उस बात को कहा है उसका ज्ञान मुझे सही-सही नहीं हो पाता। फिर भी दूसरों के द्वारा अपनी आलोचना मेरे कान तक पहुँचती है, उससे मेरा हित ही होता है क्योंकि वह गन्दी चादर धोने के लिए

सावुन का कार्य करता है। मैं तो ऐसे सज्जन व्यक्तियों को निन्दक के नाम से नहीं पुकारना चाहता क्योंकि वे तो एक प्रकार से मेरा भला ही करते हैं और मैं उनका कृतज्ञ हूँ। ऐसा भी होता है कि कहीं-कही मिथ्या दोषारोपण भी किया जाता है—ऐसी अवस्था में कभी-कभी मुझे बुरा लगता है जो कि नहीं लगना चाहिए। फिर भी ऐसे व्यक्तियों के प्रति कोई दुर्भावना न हो मैं ऐसा प्रयास करता हूँ। मेरे द्वारा किसी का भी अहित न हो और मैं किसी का अहित सोचूँ भी नहीं, इसके लिए मैं बड़ा ही सजग रहता हूँ। मैं दैनिक रूप में परमपिता परमेश्वर एवं गुरु देव जी से प्रार्थना करता रहता हूँ कि वे मुझे किसी के अहित का निमित्त न वनाएँ और मुझे वैर, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या वदला लेने की भावना आदि से वचाए रखें। जब कोई व्यक्ति मेरी निन्दा के माध्यम से संस्था की बुराई करते हैं अथवा गुरुदेव की संस्था को हानि पहुँचाने के लिए ऐसा करते हैं तो उसे सहन करने में मैं अक्सर असमर्थ रहता हूँ। गुरुदेव श्री स्वामी शिवा-नन्द जी महाराज तो अपने निन्दक की भी सेवा करते थे, मैं भी इसका लघु प्रयास करता हूँ। वे तो एक महापुरुष और सिद्ध महात्मा थे। मैं तो उनकी चरण-रज के बराबर भी नही हूँ फिर मैं पूर्णरूप से उनका अनुकरण भी नहीं कर पाता। जैसे एक वालक डगमगाते पगों से चलने का प्रयास करता है, इस सेवक की भी वही अवस्था समझिए। जो मेरी भलाई करते हैं वे तो उदार हैं ही और जो मेरी बुराई करते हैं वे तो परम उदार हैं क्योंकि वे अपना अकल्याण करके मेरा भला करते हैं। मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

प्रश्न : जब लोग आपकी प्रशंसा करते हैं तो कैसा लगता है ?

उत्तर : मैं एक संन्यासी साधक हूँ, सिद्ध नहीं हूँ। सिद्ध तो प्रशंसा और निन्दा से ऊपर होते हैं, उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

मेरी कमजोरी है तो यह कि मुझे अपनी प्रशंसा सुनना कभी-कभी अच्छा लगता है। साधक के लिए यह विष है। सतत् प्रयत्न करता हूँ कि प्रशंसा न सुनूँ, उससे दूर रहूँ, प्रशंसा न भाए और उससे (इन्डिफरेन्ट) रहूँ परन्तु सदा ऐसा नहीं होता। कहीं-कहीं तो मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि लोग झूठी प्रशंसा भी करते हैं और तब मुझे बड़ी हँसी आती है। सम्भवत: वे समझते हैं कि मैं उनकी झूठो प्रशंसा को नहीं समझ पा रहा हूँ—ऐसा वे अपनी किसी स्वार्थ सिद्धि के लिए करते हैं अथवा मुझे बुद्ध बनाने के लिए ऐसा–प्राय: पाया है। प्रभु अनुकम्पा एवं गुरु कृपा से मुझ पर प्रभाव नहीं पड़ता। सतर्क रहता हूँ कि किसी भी प्रशंसा का कुप्रभाव न पड़े और यह भी प्रभु कृपा ही है। मेरा अपना गुण नहीं। भगवद्भक्ति की भावना से हृदय और आत्मा में ही डुबकी लगती रहे, यह है मेरा सतत् विनम्र प्रयास है। जो आत्मा नदी संगम का एक पवित्र तीर्थ है, सत्य उसका जल है, दया उस जल की तरगें हैं और शील के उस के दो तट हैं। अपने को वीरां करने, नेस्त करने और खाकसारी को जीवन में लाने का प्रयास बराबर चल रहा है क्योंकि—

"वीरां किया जब आप को बस्ती नजर पड़ी।
जब आप नेस्त हम हुए हस्ती नज़र पड़ी॥
जाना कि खाकसारी ही आली मुकाम है।
ज्यों-ज्यों बुलन्द हम हुए पस्ती नजर पड़ी॥

प्रश्न : सिद्ध पुरुष के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर : सिद्ध पुरुष वे होते हैं, जिन्होंने भगवत्-प्रेमामृत का पान कर लिया हो। छोटी-छोटी सिद्धि आदि दिखाने वाले व्यक्तियों को सिद्ध नहीं कहा जा सकता। यहाँ तक कि अणिमादि सिद्धियों के प्राप्त पुरुष को भी सिद्ध कह कर नहीं पुकारा जा सकता। जिन महापुरुषों को आत्म साक्षात्कार हो जाता है अथवा जिनका

'मैं' सदा के लिए समाप्त हो जाता हैं, ऐसे सिद्ध महापुरुष और भक्त-भुक्ति और मुक्ति को भी स्वीकार नहीं करते और यदि इन्हें वे स्वीकार कर लेवें तो वे इसे अपना परम सौभाग्य मानते हैं। नारदपंचरात्र में कहा गया है कि—

"मुक्ति आदि सिद्धियाँ और अनेक प्रकार की भुक्तियाँ (भोग) दासी की भाँति हरिभक्ति महादेवी की सेवा में लगी रहती हैं।"

(हरि भक्ति महादेव्याः सर्वा मुक्त्यादि सिद्धयः।
मुक्तयश्चाद्भुतास्यचेटि कावदनुव्रताः।।)

प्रश्न : आपने परसों के प्रवचन में भक्ति-साधन के सम्बन्ध में तीन भाव बताये थे—कृपया उन्हें पुनः दोहरा दें।

उत्तर : वे पूरी बातें तो अब मुझे याद नहीं हैं। सबसे प्रथम बात तो यह है कि 'प्रभु है' इसमें आस्था होनी चाहिए, फिर क्रमशः तीन भावनाओं को अपने अन्दर दृढ़तापूर्वक सरल ढंग से जमाना चाहिए—

तस्यैवाह्म—मैं उसका हूँ।
तवैवाह्म—मैं तेरा हूँ।
त्वमेवाह्म—मैं तू ही हूँ।

प्रश्न : जो साधक 'दीन' भावना रखकर साधन करते हैं क्या उनमें हीन भावना नहीं आती ?

उत्तर : पहले यह समझ लें कि 'दीनता' और 'हीनता' में भेद है। संसारी हीन होकर जगत के आगे हाथ फैलाकर भिक्षा मांगता रहता है। वास्तव में इससे साधक को अपनी अवस्था का, असमर्थता एवं जगत की निस्सारता का भास होने लगता है, तब वह 'दीन' होकर 'दीनदयाल' की शरण में जाता है और स्वतः पुकार उठता है—

"सर्व साधन हीनस्य पराधीनस्य सर्वथा।
पाप पीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम्।।

वैसे साधन करने में कोई असमर्थ नहीं क्योंकि जो कोई कुछ भी न कर सके वह ही साधन न करने में असमर्थ माना जाता है। पूरा न करे और गलत करता रहे और फिर कहे मैं असमर्थ हूं तो इसे उसकी मक्कारी ही समझना चाहिए। परम श्रद्धेय पूजनीय श्री शरणानन्द जी महाराज बड़े स्पष्ट ढंग से कहा करते थे, "कुछ नहीं करने वाले को भी वही मिलेगा जो सब कुछ करने वाले को मिलता है, बल्कि कुछ भी नहीं करने वाले को सिद्धि पहले मिलती है और सब कुछ करने वाले को पीछे। अतः जो कुछ भी नहीं कर सकता, वह असमर्थ है और जो सही करता है वह समर्थ—दोनों को ही समान सिद्धि मिलती है। परन्तु गलत करने वाले को तो दुःख के सिवा और कुछ नहीं मिल सकता।"

प्रश्न : 'कुछ न करना' और 'सब कुछ करना' इन दोनों का अर्थ एक कैसे हो सकता है ?

उत्तर : दीन मनुष्य को जब अपनी असमर्थता का ज्ञान होता है तब वह दीनदयाल को पुकारता है और दीनदयाल उसकी पुकार सुनते भी हैं परन्तु करने की सामर्थ्य रहते हुए दीनता की पीड़ा से मनुष्य पीड़ित नहीं हो पाता—यही एक बहुत बड़ा भ्रम है। फिर वह 'कुछ करने' की भावना भी रखता है जिससे अवनति होती है क्योंकि 'कुछ करने' की भावना के आधीन होने पर 'कुछ' की ओर जाना ही पड़ता है जिससे उसकी अन्तर की दशा इस प्रकार की बन जाती है जिससे वह 'सब कुछ' से विमुख हो 'कुछ न' होवे तो स्वतः 'सब कुछ' मिल जाता है। क्योंकि उनकी सच्ची शक्ति हीनता होते ही अनन्त शक्ति बिना बुलाये आ जाती है। जेसे गजेन्द्र को जब अपनी शक्तिहीनता का ज्ञान हुआ और द्रौपदी को अपनी असहाय परिस्थिति का वास्तविक दर्शन हुआ तभी तो दोनों ने प्रभु को व्याकुल होकर टेरा और वे भागे आये !

प्रश्न : संसार सागर से जीव का उद्धार कैसे हो ?

उत्तर : अभी तक तो मेरा अनुभव कुछ इस प्रकार का है कि भवसागर से जीव का उद्धार होना अत्यन्त कठिन है—परन्तु श्री भगवान ने स्वयं जो आश्वासन दिया है उस आधार पर इसे असम्भव नहीं समझना चाहिए। भगवत-शरण होने से अति कठिन से कठिन कार्य भी सुलभ और सुसाध्य हो जाते हैं। आपका जो प्रश्न है उसका उत्तर श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय में श्री मुख का अपना वाक्य है, जिसमें उन्होंने अपनी माया को दुस्तर बतलाते हुए उससे तरने का उपाय भी बताया है—

"देवी ह्यैषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

अर्थात् यह अलौकिक अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं वे इस माया को उल्लंघन कर जाते हैं यानि संसार से तर जाते हैं। निरन्तर भगवान का भजन ही साधन है, जिससे जीव माया से तर सकता है।

प्रश्न : जगत में बहुमूल्य क्या है ?

उत्तर : आपने जगत की बात की—मेरे अनुसार जगत में 'समय' बहुत ही मूल्यवान है क्योंकि काफी धन व्यय करने पर भी एक क्षण को वापिस नहीं लाया जा सकता है। किसी ने तो यहां तक कहा है कि जो समय का आदर करता है वह काल को भी जीत लेता है अर्थात् जन्म-मरण से छुटकारा पा लेता है।

प्रश्न : बहुत से हिन्दुओं का ऐसा मत है कि उत्तर को ओर सिर करके नहीं सोना चाहिए—क्या यह विज्ञान सम्मत बात है या केवल अन्ध विश्वास है ?

उत्तर : मेरे विचार से यह अन्धविश्वास की बात नहीं हैं अपितु विज्ञान की बात है। उत्तर की ओर सिर करके सोने से मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों का ध्रुव की ओर आकर्षण होता है। ध्रुव

की ओर इस प्रकार का आकर्षण शरीर को निर्बल बनाता हैं और उससे रोग आदि का भी भय रहता हैं। यहां तक कहा जाता हैं कि लगातार ऐसा करने से आयु क्षीण होती है, इसीलिए हमारे पूर्वज उत्तर की ओर सिरहाना करके नहीं सोते।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो हिन्दुओं में जब कोई मनुष्य मरने लगता हैं तो उसका सिर उत्तर की ओर क्यों करते हैं? यदि आपकी बात सत्य मान लें तो उसका सिर उत्तर के अतिरिक्त किसी और दिशा में करना चाहिए!

उत्तर : मेरी पहली प्रार्थना यह है कि आप इसको मेरी बात न मानें—यह तो धर्म-शास्त्र की बात हैं। जब किसी रोगी के जीने की आशा नहीं रहती और घर वाले ऐसा समझते हैं कि यह अब बिल्कुल मृत्यु के समीप पहुंच गया है, तब इस उद्देश्य से उसका सिर उत्तर की ओर किया जाता है जिससे कि उसका आकर्षण ऊर्ध्वलोक की ओर हो जाये और उसे ऊर्ध्वगति प्राप्त होवे।

प्रश्न : आपने एक दिन अपने प्रवचन में पांच प्रकार की मुक्तियों का उल्लेख किया था। वे मुक्तियां कौन सी होती हैं और उनका क्या अर्थ होता है?

उत्तर : सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—यह पाँच प्रकार की मुक्तियां हैं। इनका अर्थ क्रमशः 'भगवान् के समान लोकप्राप्ति' 'भगवान् के समान ऐश्वर्यप्राप्ति' 'भगवान् के समीप स्थानप्राप्ति' 'भगवान् के समान स्वरूपप्राप्ति' 'भगवान् में लय-प्राप्ति'।

प्रश्न : 'जिमि सौ असन पचवै जठरागी' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर : आपने यह प्रश्न घुमाकर किया। मानस में जहां पर यह बात कही गयी है वे चौपाइयां निम्न प्रकार से हैं और उन्हें एक साथ पढ़कर यदि उनपर विचार और मनन करें तो स्वतः स्पष्ट अर्थ निकल आयेगा—

"भोजन ३.रिअ तृपिति हित लागी। जिमि सौ असन पचवै जठरागी ॥
असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई ॥

इसका भाव इस प्रकार से समझना चाहिए कि भगवत भक्ति मुँह में ग्रास लेने के समान ही सुगम है। आप विचार करें कि जब आप अपने मुँह में भोजन करने की दृष्टि से ग्रास लेते हैं तो उसके परिणामस्वरूप तीन बातें होती हैं—तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा की निवृत्ति। इसी प्रकार से भक्ति के द्वारा भी तीनों बातें एक साथ पूरी होती हैं—भगवत प्रेम, प्रेमास्पद भगवान के स्वरू की स्फूर्ति और सांसारिक सम्बन्धों से वैराग्य। जिस सन्दर्भ और विषय को लेकर यह बात कही गयी है उसका भाव चौपाई में ही दिया हुआ है।यहाँ पर हरि भक्ति को सुगम सुखदायी बताने और समझाने के लिए भोजन करने का उदाहरण दिया गया है। आदमी तो भोजन क्षुधा-निवृत्ति के लिए करता है क्योंकि इसी बात को वह प्राथमिकता देता है। भोजन करने से तुष्टि और पुष्टि भी होती है इसका भी उसे विचार और अनुभव है। श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से इसको हमारे सामने रखा है। संसार से पूर्ण एवं दृढ़ वैराग्य होना बड़ा ही कठिन है। जब तक यह नहीं होता तब तक ज्ञान आदि के साधनों में उन्नति होना कुछ सम्भव हो नहीं। यहां पर भगवत भक्ति को ऐसा सुगम कहकर वे एक बड़ा रहस्य हमारे सामने रखते हैं और वह यह है कि केवल त्याग और वैराग्य में ही नहीं, संग्रह और राग की स्थिति में भी यह भक्ति बढ़ती ही जाती है। यद्यपि यह बड़े आश्चर्य की बात है परन्तु इसमें एक बहुत बड़ा तत्व छिपा हुआ है और वह तत्व यह है कि भगवत प्रेमी साधक एक मात्र राम के भरोसे ही रहता है और उसका योग क्षेम भगवान स्वयं ही वहन करते हैं। शरणागति की यह तीसरी सच्ची दृढ़ता है—'रक्षिष्यतीति विश्वासः'।

प्रश्न : मानव-दर्शन का केन्द्र-बिन्दु क्या है ?

उत्तर : विचार करें कि आप क्या चाहते हैं—अपना भला, अपना कल्याण चाहते हैं कि नहीं ? प्रत्येक प्राणी में अन्तर्जात प्रवृत्ति पायी जाती है कि वह अपना हित चाहता है । परन्तु उसके हित चाहने में नासमझी का भी समावेश होता है और कभी-कभी इस कारण अपना हित चाहते हुए भी वह अपना बुरा कर बैठता है तो मानव का केन्द्र बिन्दु, कर्त्तव्य की दृष्टि से परहित है । दूसरी बात यहां यह विचारणीय है कि जो व्यक्ति धर्म परायण नहीं है और जिसमें सदाचार की कमी है उस मनुष्य को सही अर्थों में मानव की संज्ञा नहीं दी जा सकती। मानव वही हो सकता है जो असद् विचारों का त्याग करे और सद् विचारों को ग्रहण करे क्योंकि विचारों के अनुरूप ही मानव में आचरण की प्रक्रिया का प्रस्फुटन होता है। सदाचारी मानव ही दूसरों का परोपकार कर सकता है और यही उसका सबसे बड़ा धर्म है । मानव में उत्तरकाण्ड में आया है कि—

"परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।"

प्रश्न : धर्म-अधर्म कैसे होता है ?

उत्तर : धर्म-अधर्म राग द्वेष की भावना से होता है। अपने मैं की पुष्टि में मानव अज्ञानवश लगा रहता है। और उस मैं को वह अपने शरीर से जोड़ लेता है। ज़बकि उसका "मैं" उसके शरीर से भिन्न होता है। फिर मैं के साथ तू जुड़ जाता है और फिर मेरा तेरा के चक्कर में राग द्वेष के कारण मोह में पड़ जाता है। फिर उसे धर्म और अधर्म का ध्यान नहीं रहता ।

प्रश्न : श्रीरामचरितमानस में लिखा है—"गौतम तिय गति सुरति करि नहिं परसति पग पानि ।" जिसका अर्थ यह होता है कि विवाह के समय सीता जी ने श्री राम भगवान के चरणों का स्पर्श इसलिए नहीं किया कि उन्होंने मन में सोचा कि यदि

मैं चरण छूकर प्रणाम करूँ तो मेरे हाथों के पाषण जटित आभूषणों का स्पर्श यदि चरणों से हो गया तो वे सब स्त्रियां बन जायेंगी और फिर वे मेरी सौत हो जायेंगी। क्या यह उचित है ?

उत्तर : मेरे विचार से इस प्रकार का अर्थ लगाना अथवा इस प्रकार की शंका करना उचित नहीं है। जब भी मानस की किसी अर्धाली या चौपाई का सही अर्थ समझना हो तो पूरी अर्धाली अथवा चौपाई पढ़कर और समझकर अर्थ निकालना चाहिये उपरोक्त पंक्ति जो आपने कही है वह बालकाण्ड में इस प्रकार है —

"गौतम तिय गति सुरति करि नहिं परसति पग पानि।
मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि॥"

यदि श्री सीता जी के मन में उनके पाषाणजटित आभूषण, जिनमें मणि आदि थी, के पत्थर से स्त्री बनने का भय होता तो उनके अन्दर चिन्ता का होना आवश्यक था। परन्तु यहां ऐसी कोई बात नहीं दिखाई पड़ती अपितु इसके विपरीत उनके हृदय की दशा को दिखाते हुए अलौकिक प्रीति की बात कही गयी। अतः मेरे विचार से यह भाव-अर्थ मूलपद से सुसंगत नहीं हो सकता।

प्रश्न : स्वप्न को सत्य मानना चाहिए या मिथ्या ?

उत्तर : स्वप्न का अर्थ तो होता है और स्वप्न में वस्तु व्यक्ति आदि दिखायी भी देते हैं तथा अनेक प्रकार के वार्तालाप आदि भी होते हैं और कभी-कभी कुछ वस्तुओं या धन आदि की भी प्राप्ति होती है। एक बार मुझे स्वप्न में एक सज्जन ने बड़ी सुन्दर घड़ी दी, परन्तु जब मैं जगा तो घड़ी नहीं थी। आप बताओ इस स्वप्न को आप सत्य कहेंगे या असत्य। मेरे विचार से तो इसका एक ही उत्तर है—बाधितं भवति वा न वा ? स्वप्न में देखे गये दृश्य आदि स्वप्न अवस्था बीत जाने पर बाधितं हो जाते हैं या नहीं। क्योंकि वे बाधित हो जाते हैं अतः उन्हें सत्य नहीं कहा जा सकता।

ध्यान के सम्बन्ध में संकेत

१. ध्यान के लिए ताला-कुञ्जी वाला एक कमरा अलग होना चाहिए। इसमें किसी को जाने की आज्ञा नहीं होनी चाहिए। इसमें धूप जलानी चाहिए और पैर धोकर फिर कमरे में प्रवेश करना चाहिए।

२. किसी शान्त स्थान या कमरे में बैठो जहाँ पर किसी प्रकार के विघ्न का भय न हो, जिससे तुम्हारे मन को शान्ति और आराम मिल सके। सम्भव है ऐसा स्थान हर समय तथा हर जगह न प्राप्त हो सके। ऐसी दशा में जो उपलब्ध हो सके, उसी से उचित रीति से काम लो। तुम केवल अकेले रह कर भगवान् या ब्रह्म के साथसम्पर्क स्थापित करो।

३. प्रातःकाल चार बजे ब्राह्ममुहूर्त्त में उठो और चार से छः बजे तक ध्यान करो।

४ कमरे में इष्टदेवता का चित्र तथा कुछ धार्मिक ग्रन्थ जैसे उपनिषद्, योगवाशिष्ठ, गीता, भागवत, रामायण आदि भी रखो। इष्टदेवता के चित्र के सम्मुख अपना आसन बिछाओ।

५. पद्मासन, सिद्धासन, सुखासन या स्वस्तिकासन में बैठो; मस्तक, ग्रीवा और शरीर को एक सीध में रखो। इधर-उधर आगे-पीछे न झुको।

६. आँखें बन्द कर लो और त्रिकूट में सुगमता से ध्यान करो। हाथों की अंगुलियों को बन्द कर हाथों को घुटनों पर रखो।

७. मन के साथ युद्ध न करो। ध्यान करते समय कोई भी तीव्र उद्योग काम में न लाओ। पुट्ठों और नाड़ियों को ढीला छोड़-दो। मस्तिष्क को शान्त करके इष्टदेव का ध्यान करो। भाव और अर्थ के साथ अपने गुरु-मन्त्र का भी धीरे-धीरे उच्चारण

करते जाओ। उन्मत्त मन को शान्त कर दो। विचारों को रोक दो।

८. मन पर अधिकार करने के लिए प्रबल प्रयत्न करो। मन यदि इधर-उधर भागे तो उसे कुछ समय के लिए ऐसा करने दो, जिससे कि उसके प्रयत्न पूरे हो जाएं। वह इस अवसर पर अवश्य लाभ उठायेगा। फिर धीरे-धीरे शान्त होकर तुम्हारी आज्ञा की प्रतीक्षा करेगा। मन को वश में करने के लिए कुछ समय अवश्य लगेगा, परन्तु ज्यों-ज्यों तुम प्रयत्न करते जाओगे, त्यों-त्यों वह तुम्हारे पास आता जायेगा।

९. सगुण और निर्गुण ध्यान :—भगवान् के नाम और उनकी मूर्ति का ध्यान करना सगुण ध्यान है। यह साकार ध्यान है। अपनी रुचि के अनुसार भगवान् की किसी भी मूर्ति का ध्यान और उनके नाम का उच्चारण करो। यह सगुण ध्यान है। अथवा ॐ का मानसिक जप करो और आदर्श भावनाओं, जैसे अनन्तता, नित्यत्व, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, आनन्द इत्यादि का ध्यान करो। इन भावनाओं को अपने ही साथ संयोजित करो। यह निर्गुण ध्यान है। ध्यान की एक ही प्रणाली को ले लो और उसीपर दृढ़तापूर्वक चलते रहो। आरम्भावस्था में सगुण ध्यान ही अधिकांश व्यक्तियों के लिए अनुकूल रहता है।

१०. जब मन लक्ष्य से दूर भागे तो उसे बार-बार खींच कर लाओ और लक्ष्य पर लगाओ। इस प्रकार का संग्राम कुछ महीनों तक चलता रहेगा।

११. जब तुम भगवान् कृष्ण का ध्यान करो तो आरम्भ में उनका चित्र अपने सामने रखो। बिना पलक मारे एक-टक होकर उनकी ओर देखो। पहले उनके पैरों को, कीरीट को, कौस्तुभ मणि को, भुजबन्धों को, कंकणों को फिर शंख, चक्र, गदा और पद्म को देखो। पुनः पैरों से आरम्भ करके इसी नियम

को दोहराओ। इस प्रकार तुम आधा घण्टे तक बार-बार करो। जब तुमको थकावट मालूम हो तो केवल मुख की ओर तत्परता से देखो। तीन महीने तक इस प्रकार अभ्यास करो।

१२. फिर आंखें बन्द करके अभ्यास करो। चित्र की मानसिक कल्पना करो और मन को चित्र के विविध अंगों पर पहले की भाँति फिराओ।

१३. ध्यान करते समय भगवान के दिव्य गुणों का चिन्तन करो; जैसे वह सर्वशक्तिमान है, वह सर्वज्ञ है, वह शुद्ध है, वह सर्वव्यापी और पूर्ण है, इत्यादि।

१४. यदि बुरे विचार मन में प्रवेश करें तो उन्हें बलपूर्वक हटाने का प्रयत्न न करो। इससे तुम्हारी शक्ति घटेगी, तुम्हारे मस्तिष्क पर व्यर्थ ही जोर पड़ेगा और तुम थक जाओगे। ज्यों-ज्यों तुम बुरे विचारों को हटाने का प्रयत्न करोगे, त्यों-त्यों वे अधिक बल के साथ तुम में पुनः प्रवेश करेंगे। वे अधिक बलशाली होकर तुम्हें दबा देंगे। उदासीनता का भाव रखो, शान्त रहो, वे शीघ्र अपने आप ही चले जायेंगे अथवा प्रतिपक्ष भावना के नियम को काम में लाओ; उत्तम विचारों को मन में आने दो; अथवा भगवान् के चित्र का और मन्त्र का बार-बार एक चित्त होकर ध्यान करो या प्रार्थना करो।

१५. ध्यान के बिना तुम्हारा एक भी दिन नहीं व्यतीत होना चाहिए। नित्य नियमपूर्वक अभ्यास करो। सात्त्विक भोजन करो। फल और दूध से तुम्हारी मानसिक स्मरण-शक्ति बढ़ेगी। मांस, मछली, अण्डा, धूम्रपान तथा मादक द्रव्यों का त्याग करो।

१६. सुस्ती हटाने के लिए मुख पर ठण्डा जल छिड़को। पन्द्रह मिनट तक खड़े हो जाओ या इधर-उधर तीव्र गति से टहलो। कुछ व्यायाम जैसे दण्ड-बैठक, शीर्षासन, मयूरासनादि करो या

भस्त्रिका, कपालभाति, हलका सा कुम्भक करो । कुछ एक मिनट झूले में भी झूल सकते हो । रात्रि में केवल दूध और फल ही खाकर सो जाओ । इन नियमों से सुस्ती और तन्द्रा को हटाया जा सकता है ।

१७. मित्रों के चुनाव में सदा सावधान रहो। सिनेमा देखने का व्यसन बुरा है, उसे त्याग दो । बात कम करो। नित्य दो घंटे मौन रहो। अयोग्य पुरुषों के साथ सम्पर्क न रखो । उत्तम भावप्रद धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करो। यदि सन्त-महात्माओं की उत्कृष्ट संगति प्राप्त न हो सके तो धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी एक प्रकार की सत्संगति है। ये सब बातें ध्यान में सहायताप्रद होती हैं ।

१८. शरीर को इधर-उधर न हिलने दो। उसे चट्टान की तरह निश्चल रखो। धीरे-धीरे श्वांस लो। शरीर को बार-बार न खुजलाओ । अपने गुरु के बतलाने के अनुसार ही अपना मानसिक भाव बनाए रखो ।

१९. जब मन शान्त हो जाय तो ध्यान बन्द कर दो। उसे थोड़ा आराम करने देना चाहिए।

२०. जब एक ही प्रकार का विचार मन में घनीभूत होकर निरन्तर समाया रहता है तो वह वस्तुतः शारीरिक या मानसिक स्थिति में परिवर्तित हो जाता है। इसीलिए यदि तुम अपने मन को केवल एक भगवान् के विचार से ही परिपूर्ण रखोगे तो तुम शीघ्र ही निर्विकल्प की अवस्था को प्राप्त कर लोगे, अतः प्रसन्नचित्त होकर यथाशक्य प्रयत्न करो।

—स्वामी शिवानन्द

जप करने के नियम

१. जहाँ तक सम्भव हो गुरु द्वारा दिये हुए मन्त्र का, या फिर किसी भी एक मन्त्र का अथवा परमात्मा के किसी एक नाम का १ से २०० माला जप करो।

२. रुद्राक्ष अथवा तुलसी की माला का उपयोग करो।

३. माला फेरने के लिए दायें हाथ की मध्यमा अंगुली तथा अंगूठे का उपयोग करो।

४. माला नाभि के नीचे लटकनी नहीं चाहिए। माला वाला दायाँ हाथ हृदय के पास अथवा नाक के पास रखो।

५. माला ढकी रहनी चाहिए जिससे कि वह तुम्हें अथवा दूसरों को दिखाई न दे। गोमुखी या स्वच्छ वस्त्र का उपयोग करो।

६. एक माला जप समाप्त हो जाने पर फिर माला को फिरा लो। सुमेरु के दाने को पार नहीं करना चाहिए।

७. जहाँ तक सम्भव हो मानसिक जप करो। यदि मन चञ्चल हो जाता है तो जप गुनगुनाते हुए आरम्भ कर दो। फिर जोर-जोर से जप आरम्भ करो। इसके बाद फिर मानसिक जप जितनी जल्दी हो सके, करना आरम्भ कर दो।

८. प्रातःकाल जप के लिए बैठने से पूर्व या तो स्नान कर लो या हाथ-पैर-मुंह धो डालो। दोपहर या सन्ध्या के समय ऐसा करना आवश्यक नहीं है, पर यदि सम्भव हो तो हाथ-पैर आदि अवश्य धो डालना चाहिए। जब भी तुम्हें खाली समय मिले तभी जप करते रहो। मुख्य रूप से प्रातःकाल, दोपहर तथा सन्ध्या और रात को सोने से पूर्व जप अवश्य करना चाहिए।

९. जप के साथ में या तो अपने आराध्य देव का ध्यान करो या

प्राणायाम करो। अपने आराध्य देव का चित्र अथवा प्रतिमा अपने समक्ष रखो।

१०. जब कभी तुम जप करते हो, तब मन्त्र के अर्थ पर विचार किया करो।

११. मन्त्र के प्रत्येक अक्षर का ठीक से सही-सही उच्चारण किया करो।

१२. मन्त्र-जप न तो बहुत जल्दी और न बहुत धीरे ही करो। जब तुम्हारा मन चञ्चल हो जाय तो अपने जप की गति को तेज कर दो।

१३. जप के समय मौन धारण करो और उस समय अपने सांसारिक कार्यों से कोई सम्बन्ध न रखो।

१४. पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुंह करके जहाँ तक हो, प्रतिदिन एक ही स्थान पर एक ही समय जप के लिए आसन लगाओ। मन्दिर, नदी का तट या बरगद अथवा पीपल के वृक्ष के नीचे का स्थान जप करने के लिए उपयुक्त स्थान है।

१५. भगवान् से कोई सांसारिक वस्तु की याचना न करो।

१६. जब तुम जप करते हो तो ऐसा अनुभव करो कि भगवान् की अनुकम्पा से तुम्हारा हृदय निर्मल होता जा रहा है और चित्त सुदृढ़ बन रहा है।

१७. अपना गुरु-मन्त्र सबके सामने प्रकाशित मत करो।

१८. जप के समय बिना हिले-डुले एक ही आसन पर बैठने का अभ्यास करो।

१९. जप का नियमित हिसाब रखो। उसकी संख्या को धीरे-धीरे बढ़ाने का प्रयत्न करो।

२०. मानसिक जप को सदा चालू रखने का प्रयत्न करो। जब तुम अपना कार्य करते हो तब भी मन से जप करते रहो।

—स्वामी शिवानन्द

साधना तत्व

अर्थात्

सप्त-साधन-विद्या

(मनुष्य की शीघ्र उन्नति तथा विकास के लिए
शास्त्रोक्त साधनों का सार)

भूमिका

(क) हजारों टन सिद्धान्तों के ज्ञान से एक ग्राम भर साधनों का आचरण अधिक लाभप्रद है। इसलिए अपने दैनिक जीवन में योग, धर्म एवं दर्शन-शास्त्रों में बताये हुए साधनों का अभ्यास कीजिए, जिससे मनुष्य-जीवन के चरम लक्ष्य—आत्मसाक्षात्कार—की प्राप्ति हो।

(ख) इस साधन-पट में उपर्युक्त साधनों का तत्त्व एवं सनातन धर्म का विशुद्ध स्वरूप ३२ शिक्षाओं द्वारा दिया गया है। इनका अभ्यास वर्तमान काल के अत्यन्त कार्यव्यस्त लोगों के लिए भी सुशक्य है। इनके समय और परिमाण में आवश्यकतानुकूल परिवर्तन कर लीजिए और इनकी मात्रा धीरे-धीरे बढ़ाते जाइए।

(ग) आरम्भ में इनमें से थोड़ी ऐसी शिक्षाओं के पालन का संकल्प कीजिए, जिनसे आपके स्वभाव और चरित्र में थोड़ा निश्चित सुधार हो। यदि किसी दिन बीमारी, सांसारिक कामों की अधिकता या किसी अनिवार्य कारण से आप निश्चित साधनों को न कर सकें तो उनके बदले यथासम्भव अधिक से अधिक ईश्वर-नाम-स्मरण या जप कीजिए।

(१) आरोग्य-साधना

१. मिताहार—आधा पेट खाइए। हलका और सादा भोजन

कीजिए। भोजन करने से पूर्व उसे भगवान को अर्पण कीजिए। सन्तुलित आहार लीजिए।

२. रजस्तमोवर्द्धक पदार्थों का त्याग—जहाँ तक सम्भव हो मिर्च, मसाले, इमली आदि राजसिक पदार्थों का सेवन मत कीजिए। चाय, काफी, धूम्रपान, मांस-मछली तथा शराब का सर्वथा त्याग कीजिए।

३. व्रत-उपवास—एकादशी के दिन उपवास कीजिए अथवा केवल थोड़ा दूध, कन्द और फल खाइए।

४. आसन-व्यायाम—योगासन या शारीरिक व्यायाम प्रतिदिन १५ से ३० मिनट तक कीजिए। प्रतिदिन दूर तक टहलने जाइए या श्रम-दायक कोई खेल खेलिए।

(२) प्राणशक्ति-साधना

५. मौनव्रत—प्रतिदिन दो घण्टे तथा रविवार को चार से आठ घण्टे तक मौन रहिए।

६. ब्रह्मचर्य-व्रत—अपनी आयु तथा परिस्थिति के अनुसार ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कीजिए। शुरू के महीनों में एक बार से अधिक ब्रह्मचर्य भंग न करने का संकल्प कीजिए। धीरे-धीरे घटा कर वर्ष में एक बार तक ले आइए। अन्त में जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा कीजिए।

(3) चरित्र-साधना

७. सत्य—सत्य, मधुर, हितकर और अल्प भाषण कीजिए।

८. अहिंसा—मन, वचन और कर्म से किसी को कष्ट न पहुँचाइए। प्राणीमात्र पर दया-भाव रखिए।

९. आर्जव—सब लोगों से सरलता, निष्कपटता और खुले दिल से बरताव तथा बातचीत कीजिए।

१०. ईमानदारी—ईमानदार बनिए। अपने परिश्रम (पसीने) से

कमाई कीजिए। अन्याय व अधर्म से मिलने वाला किसी का धन, वस्तु या उपकार मत स्वीकार कीजिए। सज्जनता और चरित्र का विकास कीजिए।

११. क्षमा—जब आपको क्रोध आ जाय, तब उसे धैर्य, शान्ति, दया, प्रेम और सहिष्णुता द्वारा दबा दीजिए। दूसरों के अपराध भूल जाइए और उन्हें क्षमा कर दीजिए। लोगों के स्वभाव और संयोगों के अनुसार बरताव कीजिए।

(४) इच्छाशक्ति-साधना

१२. मन-संयम—प्रतिवर्ष एक सप्ताह या एक महीने तक शक्कर या चीनी का और रविवार को नमक का त्याग कीजिए।

१३. कुसंग-त्याग—ताश, उपन्यास, सिनेमा और क्लबों का त्याग कीजिए। दुर्जनों की संगति से दूर भागिए। नास्तिक या जड़वादो से वाद-विवाद न कीजिए। ईश्वर में जिनकी श्रद्धा न हो या जो आपकी साधनाओं की निन्दा करते हों, ऐसे लोगों से मिलना-जुलना बन्द कर दीजिए।

१४. सादा जावन—अपनी आवश्यकताओं को कम कर दीजिए। सांसारिक सम्पत्ति को क्रमशः घटाते जाइए। 'सादा जीवन और उच्च विचार' का अवलम्बन लीजिए।

(५) हृदय-साधना

१५. परोपकार—दूसरों की कुछ भलाई करना यही परम धर्म है। प्रति-सप्ताह कुछ घण्टे कोई निष्काम सेवा का कार्य कीजिए। इन कामों में अभिमान या बदले की आशा न रखिए। अपने सांसारिक कर्त्तव्यों को भी इसी भावना से कीजिए। स्वधर्म और कर्त्तव्य-कर्म का ईश्वरपरायण बुद्धि से पालन करना भी एक प्रकार की पूजा ही है।

१६. दान—अपनी आय का दो से दस प्रतिशत तक दान कीजिए। आपको कोई भी अच्छी वस्तु मिले, उसको दूसरों में बाँट कर उपभोग

कीजिए। सारे संसार के प्राणियों को अपना कुटुम्बी मानिए। स्वार्थ-वृत्ति का त्याग कीजिए।

१७. नम्रता—विनम्र बनिए। सब प्राणियों को मानसिक नमस्कार कीजिए। सर्वत्र ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव कीजिए। मिथ्याभिमान, दम्भ और गर्व का त्याग कीजिए।

१८. श्रद्धा—गीता, गुरु और गोविन्द में अविचल श्रद्धा रखिए। सर्वदा ईश्वर को आत्मसमर्पण करते हुए प्रार्थना कीजिए, "हे प्रभो, जैसी तेरी इच्छा, वैसा ही हो ! मैं कुछ भी नहीं चाहता।" सब परि-स्थितियों या घटनाओं में ईश्वर-इच्छा को प्रधान समझ कर उसके अधीन हो जाइए।

१९. सर्वात्मभाव—सब प्राणियों में ईश्वर के दर्शन कीजिए और उनमें अपनी आत्मा के समान प्रेम-भाव रखिए; किसी से द्वेष न रखिए।

२०. नाम-स्मरण—सर्वदा ईश्वर का नाम-स्मरण करते रहिए या कम से कम प्रातःकाल सोकर उठने पर, व्यावहारिक कामों के बीच अवकाश मिलने पर और रात में सोने के पूर्व ईश्वर का स्मरण कीजिए। अपनी जेब में एक जपमाला रखिए।

(६) मानसिक साधना

२१. गीता-ध्यान—प्रतिदिन गीता का एक अध्याय या १० से १५ श्लोक तक अर्थ-सहित अध्ययन कीजिए। मूल गीता को समझने के के लिए यथेष्ट संस्कृत सीख लीजिए।

२२. गीता कण्ठस्थ करना—धीरे-धीरे सारी गीता को कण्ठस्थ कर लीजिए। गीता की एक पुस्तक सदा अपनी जेब में रखिए।

२३. स्वाध्याय—रामायण, भागवत, उपनिषद, योगवाशिष्ठ या अन्य दर्शन शास्त्र या धर्म ग्रन्थों का कुछ अंश प्रतिदिन अथवा छुट्टी के दिन अवश्य अध्ययन कीजिए।

२४. सत्संग—कथा, कीर्त्तन, सत्संग आदि में प्रत्येक अवसर पर जाकर उनसे लाभ उठाइए। रविवार या छुट्टी के दिन ऐसे सम्मेलनों का आयोजन कीजिए।

२५. मन्दिर-गमन—किसी भी देवमन्दिर या पूजा-स्थान में प्रति-सप्ताह कम से कम एक दिन जाकर जप, कीर्त्तन, प्रवचन आदि की व्यवस्था कीजिए।

२६. एकान्त-सेवन—अवकाश या छुट्टी के दिनों में किसी पवित्र स्थान में जाकर एकान्त-सेवन कीजिए और सारा समय साधना में बिताइए। सन्त-महात्माओं का सत्संग कीजिए।

(७) आध्यात्मिक साधना

२७. ब्राह्ममुहूर्त—रात में जल्दी सोकर प्रातःकाल चार बजे उठिए। शौच, दन्तधावन और स्नानादि से निवृत्त हो जाइए।

२८. जप, प्रार्थना और ध्यान—पद्मासन, सिद्धासन या सुखासन में बैठकर पाँच से छः बजे तक प्राणायाम, ध्यान, जप, और कीर्त्तन कीजिए। एक ही आसन में सारा समय वैठने का धीरे-धीरे अभ्यास कीजिए।

२९. सन्ध्या-पूजा—अपनी दैनिक सन्ध्या, गायत्री-जप, नित्य-कर्म और पूजा कीजिए।

३०. मन्त्रलेखन—अपने इष्ट मन्त्र या भगवान् के नाम को प्रतिदिन १० से ३० मिनट तक एक पुस्तिका में लिखिए।

३१.संकीर्त्तन—रात्रि में स्वजन, मित्र आदि के साथ बैठकर आधा से एक घण्टा तक नाम-संकीर्त्तन, स्तोत्र, प्रार्थना, भजन आदि का गायन कीजिए।

३२. दैनन्दिनी—उपर्युक्त प्रकार की साधना करने का संकल्प कीजिए और प्रति-वर्ष नया संकल्प करके साधना को बढ़ाते जाइए। नियमितता, दृढ़ता एवं तत्परता से इनका पालन करना आवश्यक है। साधना का समय, परिमाण आदि आध्यात्मिक डायरी में लिखिए। प्रति-मास उसकी समालोचना कर अपनी त्रुटियों को सुधारते रहिए।

—स्वामी शिवानन्द

दिव्य जीवन संघ और उसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ

दिव्य जीवन हमारे ऋषि-मुनियों की देन है। उनका स्वयं का जीवन 'दिव्य जीवन' रहा है। दिव्य जीवन ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करके रहने का दूसरा नाम है। कण-कण में, अणु-अणु में उस प्रभु की उपस्थिति का अनुभव करना, चारों ओर उसी की लीलाओं को निरखना तथा निरन्तर उसी को पाने की इच्छा में जीना ही दिव्य जीवन है। इन्हीं विचारों की पुष्टि के लिए तथा हिन्दू-धर्म की सद्शिक्षाओं के प्रचार-प्रसार के लिए परम पूज्य श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज ने १९३६ में दिव्य जीवन संघ की स्थापना की थी।

इस उत्तराखण्ड की तपोभूमि में, ऋषिकेश से लक्ष्मणझूला जाते हुए, गंगा जी के पावन तट पर स्थित शिवानन्दाश्रम, दिव्य जीवन संघ की प्रवृत्तियों का सजीव उदाहरण है। यह केवल उच्च कोटि के संन्यासियों का साधना-स्थल ही नहीं वरन् जनकल्याणकारी, महान् रचनात्मक केन्द्र भी है। 'कर्मयोग' का जीता-जागता प्रमाण और क्या हो सकता है!

यहाँ के भजनहॉल में २४ घण्टे, अखण्ड जप चलता रहता है। श्री विश्वनाथमन्दिर में, दिन में चार बार आरती, अर्चना तथा अभिषेक किया जाता है, जिसमें भक्तजन बड़ी श्रद्धा से भाग लेते हैं। योग-कक्ष में साधक योगाभ्यास तथा योग की शिक्षा ग्रहण करते हैं। प्रातः ४-३० से ६ बजे तक, सभी साधकों के लिए ध्यान, योगाभ्यास आदि की कक्षा चलती है। अपराह्न ४ से ५ तक योग, वेदान्त तथा इसी प्रकार के किसी विषय पर आश्रम के किसी वरिष्ठ महात्मा का प्रवचन चलता है। सन्ध्या को नित्य नियमित रूप से ७-३० से रात्रि ९-३० बजे तक सत्संग होता है, जिसमें कीर्तन, भजन तथा प्रवचन होता है।

'योग-वेदान्त आरण्य अकादमी' शिवानन्दाश्रम का हृदय-स्थल है। कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग के ज्ञान का प्रचार व प्रसार यहीं से संसार के कोने-कोने में किया जाता है। श्री स्वामी शिवानन्द जी द्वारा विभिन्न विषयों पर रचित लगभग २५० पुस्तकों का प्रकाशन तथा उनका विभिन्न भाषाओं में अनुवादादि कार्य का संचालन यहाँ से होता है। हिन्दी तथा अंग्रेजी में दो मासिक पत्रिकाएँ भी जिज्ञासुओं की धर्म, भक्ति तथा सदाचार आदि की तृषा को शान्त करती हैं।

देश-विदेश से सहस्रों की संख्या में साधक तथा भक्तजन प्रति वर्ष यहाँ आते हैं तथा यहाँ के वरिष्ठ संन्यासियों के संरक्षण में रहकर, इस देश के—भारत के महान् धार्मिक संदेशों का श्रवण करते हैं तथा पर्वतमालाओं से घिरी इस तपोभूमि में, गंगा माँ के अंक में बैठकर अपना सौभाग्य मानते हैं।

अनुभवी आचार्यों के निरीक्षण में, हिमालय की जड़ी-बूटियों से 'शिवानन्द आयुर्वेदिक फार्मेसी' में औषधि-निर्माण कार्य सम्पन्न होता है। ये औषधियाँ लाभप्रद सिद्ध होने के कारण संसार भर में बड़ी लोकप्रिय हैं।

नेत्र-चिकित्सालय तो इस क्षेत्र के लिए वरदान है। बहुत दूर-दूर से आँख के रोगी यहाँ आते हैं, जिनका उपचार निःशुल्क एवं अनुभवी डॉक्टर (स्वामी शिवानन्द हृदयानन्द माता जी) द्वारा किया जाता है। इस चिकित्सालय में आधुनिक यंत्रों की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा चिकित्सालय सामान्य रोगियों के लिए भी है, जिसमें अन्यान्य प्रकार के रोगियों की चिकित्सा की जाती है। आयुर्वेदिक औषधि-निर्माण के साथ एक औषधालय भी चलाया जाता है, जिसमें एक अनुभवी वैद्य जी की सेवाएं उपलब्ध हैं।

आश्रम का संगीत विद्यालय बड़ा ही लोकप्रिय है। देश-विदेश से आये साधक आदि कीर्तन, भजन के साथ-साथ वीणा, हारमोनियम और तबला आदि की शिक्षा ग्रहण करते हैं। श्री स्वामी नादब्रह्मानन्द

जी संगीत विद्यालय के संचालक हैं।

गो-सेवा की दृष्टि से, आश्रम की अपनी एक बड़ी गोशाला है, जहाँ वृद्धा गौओं की सेवा भी की जाती है।

यहाँ श्री विश्वनाथमन्दिर, श्री दिव्यनाममन्दिर, श्री गुरुदेव-कुटीर तथा श्री गुरुदेव-समाधि ऐसे पवित्र दर्शनीय स्थल हैं, जहाँ बैठ कर व्यक्ति अपने जीवन के दुःख-दर्द, चिन्ता व्याधा आदि सभी कुछ भूल जाता है।

आजकल शिवानन्दाश्रम में रहने वाले संन्यासियों, साधकों तथा अन्य अन्तेवासियों को मिला कर कुल संख्या लगभग ३०० हो गयी है। यह एक ऐसा आश्रम है, जिसकी शाखाएं संसार में सबसे अधिक हैं। संस्था के परमाध्यक्ष श्री स्वामी चिदानन्द जी महाराज, महासचिव श्री स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज तथा कोषाध्यक्ष श्री स्वामी माधवानन्द जी महाराज हैं, जिनके कन्धों पर इस विशाल तथा विस्तृत संस्था का भार है।

□□